॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

दिव्य सन्तवाणी-संग्रह

[पुरानी प्रवचन-डायरीसे संकलित परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके विविध कल्याणकारी वचन]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे प्रभो! आप ही मेरी माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो। हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो।'

संकलन तथा सम्पादन—
राजेन्द्र कुमार धवन

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273005 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

विषय-सूची

१. दिव्य सन्तवाणी-संग्रह ३
२. साधकोपयोगी विविध बातें ७७
३. हृदयोद्‌गार ८५

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

दिव्य सन्तवाणी-संग्रह

प्रेम 'भक्ति' है और परमप्रेम 'पराभक्ति' है। प्रेम वियोग नहीं सह सकता। जिसमें वियोग हो ही नहीं सकता, वह पराभक्ति है।

जिस वस्तुमें राग होता है, उसमें परमात्मा नहीं दीखते, प्रत्युत वस्तु दीखती है। रागका त्याग होनेसे परदा हट जाता है। (२९.५.१९७३, सायं ६.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आप संसारके नहीं हो—इससे बढ़कर कोई उपदेश नहीं है। आप भगवान्‌के हो—इससे बढ़कर कोई दीक्षा नहीं है। हम संसारके नहीं हैं—यह जानना है, और हम भगवान्‌के हैं—यह मानना, स्वीकार करना है।

किसीके पास लाख रुपये हों और कहे कि 'कुछ और चाहिये', वह कंगाल है। परंतु किसीके पास कुछ नहीं हो और कहे कि 'कुछ नहीं चाहिये', वह धनी है।

परमात्मा देश-कालकी दूरीसे रहित है, इसलिये वह 'मंजिल' नहीं बन सकता। (३०.५.१९७३, प्रातः ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान्, सन्त, गुरु आदिकी कृपाका सहारा लेकर बैठा रहे, भजन न करे तो धोखा होगा! साधन न करनेवालेपर जब सन्तकी कृपा मानते हो तो फिर साधन करनेवालेपर सन्तकी कृपा नहीं होगी?

जबतक उत्कट अभिलाषा और वैराग्य नहीं होगा, तबतक सन्तके द्वारा बताये बढ़िया उपाय भी काम नहीं आ सकेंगे। पाचनशक्ति न होनेपर बढ़िया भोजन कैसे पचेगा? उत्कट अभिलाषा होगी तो मामूली उपाय भी बहुत बड़ा काम करेगा। (३०.५.१९७३, दोपहर ४.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जो बात मानने अथवा स्वीकार करनेकी है, उसपर विचार करनेसे, उसको समझनेकी चेष्टा करनेसे, उसका चिन्तन करनेसे वह बात जीवनमें नहीं आयेगी। (१.६.१९७३, प्रातः ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कैकेयीको रामजी या सीताजीने कभी कहीं दोष नहीं दिया। अपने साथ बुरा व्यवहार यह शिक्षा देनेके लिये होता है कि हम ऐसा किसीके प्रति न करें। जैसे, द्रौपदीने अश्वत्थामाको छुड़वा दिया कि मैं तो पुत्रवधसे दुःखी हूँ ही, उसकी माँ भी दुःखी न हो जाय! ऐसा करेंगे, तभी तो समाजसे बुराई हटेगी, नहीं तो कैसे हटेगी? (७.७.१९७४, रात्रि ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक हो और छोड़नेकी भावना तेज हो तो ऐसी अवस्थामें जो प्रार्थना होती है, वह प्रभु सुनते हैं। **दुःख हुए बिना भगवान् प्रार्थना नहीं सुनते।** (२५.६.१९७५, प्रातः ८.३०, गीताभवन,

ऋषिकेश)

*** *** ***

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। कारण कि अगर भगवान् ही सब कर्म करवाते तो—

१—कोई कर्म गलत नहीं होता।

२—सबसे एक समान (अच्छा या बुरा) कर्म करवाते।

३—भगवान् ही उन कर्मोंका फल भोगते अथवा माफ कर देते।

४—वेदोंमें विधि-निषेध न होता।

५—स्वर्ग और नरककी व्यवस्था न होती।

६—विभिन्न योनियोंकी व्यवस्था न होती।

७—अपराधीको दण्ड देनेकी व्यवस्था न होती। (२९.५.१९७६, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

पुरुषार्थ और भाग्य एक ही चीज है। पुरुषार्थका ही बदला हुआ नाम 'भाग्य' है। पूर्वजन्मकृत कर्म अर्थात् पुरुषार्थ इस जन्ममें 'भाग्य' कहलाता है। अपनी ही भूतकालकी कमाई भविष्यकालमें 'भाग्य' कहलाती है। (३०.५.१९७६, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

महापुरुषकी पहचानके विषयमें—

१—दूसरेसे सुनकर उनको न माने।

२—स्वार्थपूर्तिसे न माने।

३—वह मान-अपमानसे परे हो। निन्दा-स्तुतिमें समान हो।

४—किसीकी बहुत प्रशंसा सुनकर उनको महापुरुष न माने।

५—वेश-भूषासे न माने।

६—प्रारब्ध बदलनेवाला महापुरुष नहीं होता।

७—जो यह बताये कि संसारमें सुख नहीं है।

८—चमत्कार देखकर महापुरुष न माने।

९—महापुरुष आशीर्वाद या शाप नहीं देता।

१०—बिना अधिकारीके वह कुछ नहीं दे सकता।

११—बौद्धिक बलसे महापुरुषको समझ नहीं सकते। (२.६.१९७६, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्र—तीनों प्रमाणोंसे महापुरुषकी पहचान होती है; जैसे—

१—उनकी आध्यात्मिक शक्तिका प्रभाव पड़ना।

२—उनमें स्वाभाविक मन खिंचना, आकर्षण होना।

३—उनके संगसे समस्त संशयोंका नाश होना।

४— उनके संगसे संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में अनुराग होना। उनके संगसे लाभ तो अवश्य होगा, पर अधिकारीको उनके संगसे तत्काल तथा विशेष लाभ होगा। चुम्बक केवल लोहेको ही खींचता है।

५—अनुमान-प्रमाणसे जिनका भगवान्‌में प्रेम हो, विरह हो।

आध्यात्मिक वातावरण मिलनेपर प्रेमरूपी अग्नि बाहर प्रकट होने लगती है। प्रेमके आठ लक्षण हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प, रंगभेद, स्वरभेद, अश्रुपात और मूर्च्छा।

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं-
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करते-करते गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंका चिन्तन करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

वे महापुरुष भगवत्प्रेमको गोपनीय रखते हैं, पर वह कभी-कभी प्रकट हो जाता है। सांसारिक प्रेम भी बाहर प्रकट हो जाता है। उनकी अवस्था जलसे भरे घटके समान परिपक्व होती है। (३.६.१९७६, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

महापुरुषकी प्राप्ति होनेसे लाभ नहीं होगा। आप महापुरुषको प्राप्त हो जायँ, तब लाभ होगा। महापुरुष तो हमें अनेक बार मिले, पर हम उनको नहीं मिले!

भगवान्‌को तो हम अनन्त बार देख चुके हैं! परंतु हम अपनी मायिक दृष्टि जिस वस्तुपर डालते हैं, वह दिव्य होते हुए भी मायिक ही दीखती है। महापुरुषपर भी हम मायिक दृष्टि डालते हैं, फिर कहते हैं कि वह जँचा नहीं!

'राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥ सदगुर बैद बचन बिस्वासा.....' (मानस, उत्तर० १२२। ३)। 'संयोग' क्या है? महापुरुषके वचनपर विश्वास हो—यही संयोग है। जैसे, वैद्य सही हो तथा उसके वचनपर विश्वास हो, तभी रोग नष्ट होगा। अगर लोहा और पारस दोनों अलग-अलग डिबियामें बन्द हों तो उनके परस्पर छूनेपर भी पारस नहीं बनेगा। महापुरुषके वचनपर विश्वास ही महापुरुषको छूना है। परंतु यह तब होगा, जब वैराग्य होगा। जैसे, आँख और प्रकाश—दोनोंके मिलनेपर ही वस्तु दीखती है, ऐसे ही महापुरुष और वैराग्य—दोनोंके मिलनेसे ही ज्ञान होता है।

जिस वस्तुकी जितनी मात्रामें जितना सुख मिले, उतना ही उस वस्तुमें 'राग' समझना चाहिये।

अनुकूल भावसे लगाव 'राग' कहलाता है और प्रतिकूल भावसे लगाव 'द्वेष' कहलाता है। संसारमें राग अथवा द्वेष—दोनों ही भयंकर हैं। राग-द्वेषसे रहित होनेपर वैराग्य होता है। राग-द्वेषसे रहित होनेका अहंकार भी न हो। (१४.६.१९७६, प्रातः ९ से ११, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

प्रत्येक मनुष्यकी गुणवृत्ति अलग-अलग होती है। अगर गुण समान हों तो भी गुणोंकी मात्रा भिन्न-

भिन्न होती है। तीनों गुण प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, इसलिये कोई भी जीव दूसरे जीवके समान एक क्षण भी नहीं हो सकता।

दु:खकी सीमा कम होनेको ही हम सुख कहते हैं। अनेकमेंसे एक दु:ख कम होता है तो सुख मिलता है। (१५.६.१९७६, प्रात: ९ से ११, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मेघाच्छन्न आकाश 'तम' है, जिसमें तारे दीखें, ऐसा साफ आकाश 'रज' है और जिस साफ आकाशमें पूर्णचन्द्र दीखे, वह 'सत्त्व' है। ये तीनों ही रात अर्थात् माया है।

वेदविरुद्ध बात अगर भगवान् (बुद्ध) भी कहें तो भी नहीं मानेंगे, फिर महापुरुषका तो कहना ही क्या! (१८.६.१९७६, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान् श्रीकृष्ण लगभग पाँच हजार वर्ष पहले हुए और प्रह्लादजी लाखों वर्ष पहले हुए, पर उनके लिये भी कहते हैं—'**कृष्णग्रहगृहीतात्मा**' (श्रीमद्भा० ७। ४। ३७)! तात्पर्य है कि भगवान्का नाम अनादि है। यह बात नहीं है कि कृष्णावतार होनेपर ही 'कृष्ण' नाम चला। (२३.६.१९७६, दोपहर ४, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसार 'दीखता' है, पर अनुभवमें नहीं आता। 'अनुभव' में तो परमात्मा ही आते हैं। अनुभव स्वयंका होता है, दीखना इन्द्रियोंका काम है।

दीखना किसी प्रकाशमें होता है। प्रकाश पहले दीखता है, वस्तु बादमें दीखती है। उस प्रकाशका अनुभव होता है। वह बुद्धिको भी प्रकाशित करता है। बुद्धिका प्रकाशक व्यष्टि है। परमात्मा प्रकाशकोंका भी प्रकाशक है—***'सब कर परम प्रकासक जोई'*** (मानस, बाल० ११७। ३)। हर समय परम प्रकाशकका ही अनुभव हो रहा है। हम वस्तुपर ध्यान देते हैं, प्रकाशपर नहीं। अनुभव (प्रकाश) पहले होता है, फिर दीखता (पदार्थ) है। वह मैं-पनका भी प्रकाशक है। (४.६.१९७७, प्रात: ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सुखकी परिभाषा है—जो हम चाहते हैं। दु:खकी परिभाषा है—जो हम नहीं चाहते।

आपको ज्ञान (विवेक)-की इतनी जरूरत नहीं है, जितनी त्यागकी जरूरत है। विवेक उतना ही चाहिये, जिससे आसक्तिका त्याग हो जाय। मनकी एकाग्रतासे सिद्धियाँ मिलती हैं, त्यागसे मुक्ति मिलती है। **शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—इससे पूरा त्याग हो जायगा, बाकी कुछ बचेगा ही नहीं!** (४.६.१९७७, प्रात: ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कविता '**स्वान्त:सुखाय**' अर्थात् अपने सुखके लिये होती है। दूसरेके सुखके लिये की गयी कविता किसी कामकी नहीं! (५.६.१९७७, प्रात: ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

किसी मरे हुएके प्रति किया गया जप उसतक अवश्य पहुँचता है। वापसीकी रसीद तो तब लेते हैं, जब पहुँचानेवालेपर विश्वास न हो। (६.६.१९७७, प्रात: ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

शरीर मेरा नहीं है—यह समझ लिया तो मानो हजारों वर्षोंकी तपस्या कर ली!! (२०.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कल्याणकी उत्कट अभिलाषा हो तो सुख-दुःख दोनों सहायता करते हैं। जो सुखमें रचे-पचे हैं, उनके लिये ही दुःखकी रचना हुई है। दुःखसे ही उनको चेत होता है। बेहोश होने (कल्याणकी इच्छा न होने)-से ही दुःख होता है। (२१.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान्‌की भेजी परिस्थितिमें सुख (सन्तोष) नहीं होता; क्योंकि उसमें सुखी होनेसे दुःख नहीं होता!! जीते हुएमें अवगुण देखते हैं, पर मरे हुएमें गुण देखते हैं; क्योंकि इसके बिना रोना नहीं होता!! (२२.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसार नारियलके समान बाहरसे दुःखालय है, पर भीतरमें सुख-ही-सुख है! संसारके भीतर परमात्मरूपी रस भरा है!!

भक्त चाहते हैं कि हमें भगवान् मिल जायँ, और भगवान् चाहते हैं कि हमें भक्त मिल जाय! हम भगवान्‌को चाहें या न चाहें, पर वे हमें सदा चाहते हैं! इसकी पहचान क्या है? भगवान् हमें किसी भी अवस्थामें टिकने नहीं देते! यही उनका बुलावा है।

भगवान् जगद्गुरु हैं। उनकी कृपासे गीता याद हो सकती है। (२३.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अभी जो सत्संग मिला है, वह सत्ययुगमें भी किसीको नहीं मिला! भगवत्कृपा अधिक हो गयी है!! (२४.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—इसको मान लें तो फिर 'साधन करेंगे, अधिकारी होंगे, योग्यता होगी' आदि सब आफत मिट जायगी! माँकी गोदमें जानेके लिये विद्या, योग्यता आदिकी आवश्यकता नहीं है। विद्या, योग्यता आदि हों तो भी अच्छी बात, न हों तो भी अच्छी बात। (२५.५.१९७८, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥' (मानस, उत्तर० ४१। १)—यहाँ ***'पर अहित'*** न कहकर ***'पर पीड़ा'*** कहनेका तात्पर्य है कि जो दूसरेकी पीड़ा नहीं सह सकता, वह अहित कैसे सहेगा? दूसरी बात, यहाँ 'सुख' न कहकर 'हित' कहा है। कारण कि 'सुख' में योग्यताका खयाल रखा जाता है। (२५.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसारको अपना माननेसे ही कमीका अनुभव होता है। संसारको अपना न माननेसे पूर्णताका अनुभव होता है—**'पूर्णमदः पूर्णमिदं०'**।

पारमार्थिक मार्ग जितना सरल है, उतना सरल नेत्रोन्मीलन, श्वासोच्छ्वास भी नहीं है!! कारण कि उसमें

उद्योग नहीं है। (२६.५.१९७८, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मुक्तिकी इच्छा तीव्र होनेसे संसारकी इच्छा मिट जाती है—यही 'मुमुक्षा' की महिमा है। संसारकी इच्छा मिटना तथा मुक्तिकी इच्छा पूरी होना एक ही है। संसारकी इच्छा मिटती है तो उसी समय मुक्ति हो जाती है। मुक्ति प्रेमकी प्राप्तिका साधन है।

संजय कहते हैं—'**व्यासप्रसादात्**' (१८। ७५) और अर्जुन कहते हैं—'**त्वत्प्रसादात्**' (१८। ७३)। कारण कि भगवान् अर्जुनको सुना रहे थे, संजयको नहीं। संजयको व्यासजीकी कृपासे सुननेको मिला।

भगवान् सबमें हैं तो जो कुछ भगवान्‌में है, वह सबमें है! अतः दूधमें घीकी भाँति सबमें प्रेम स्वतः है। खास चीज है—जड़ताके आकर्षणका नाश करना।

आनन्दसागर भगवान्‌को भी भक्तकी भावनासे सुख पहुँचता है; जैसे—भक्तके मनमें आये कि भगवान्‌को भोग लगाऊँ तो भगवान्‌को भूख लग जाती है!

सब साधन बराबर हैं। साधकमें जो अपूर्णता होती है, वही साधनमें दीखती है। (२६.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

चालीस-पैंतालीस वर्ष पहलेकी बात है। मनमें यह बात आयी कि जिसको तत्त्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, वास्तविक लाभ आदि कहते हैं, वह कैसे हो? तब विचार आया कि दो मार्ग हैं—१) शास्त्र, सन्तवाणीको पढ़कर विचार किया जाय, २) अपना अध्ययन किया जाय कि मेरा अन्तःकरण किस साधन-मार्गका अधिकारी है? कैसी योग्यता हमारेमें है? परंतु मैंने दोनों बातोंमें अपनेको असमर्थ पाया! मेरेको यह ठीक लगा कि किसी तत्त्वज्ञ महापुरुषके पास जाकर उनके कथनानुसार साधनमें लग जाय। इससे बड़ा भारी लाभ होता है! यह सिद्धान्त बहुत बढ़िया है! 'तत्त्वचिन्तामणि' के पहले भागमें आया है कि किसी महापुरुषकी शरणमें जाकर उनके कथनानुसार साधनमें लग जाना चाहिये। किंकर्तव्यविमूढ़ न रहे। शीघ्र लाभ न होनेपर धैर्य रखे। (२७.५.१९७८, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसार सदा अप्राप्त है और अप्राप्त ही रहेगा। परमात्मा सदा प्राप्त हैं और प्राप्त ही रहेंगे। संसारकी प्राप्ति वर्तमानमें नहीं होती। भगवान्‌की प्राप्ति भविष्यमें नहीं होती। संसारकी प्राप्ति धीरे-धीरे होती है। परमात्माकी प्राप्ति धीरे-धीरे न होकर तत्काल होती है।

सब दर्शनों तथा आचार्योंकी यही चाल है कि परमात्माकी प्राप्ति धीरे-धीरे होगी। उनको जानकारी नहीं थी, ऐसा नहीं है, पर उनकी इस तरफ दृष्टि नहीं थी। (२७.५.१९७८, प्रातः ७.३०, वटवृक्ष जाते समय मार्गमें, ऋषिकेश)

*** *** ***

पारमार्थिक बात अच्छी लगे तो अभीसे उसका पालन करो। सांसारिक बातमें ऐसा नहीं है। किसीकी कार अच्छी लगे तो हम अभी उसको नहीं ले सकते।

नामजपसे अपने-आप ज्ञान, बोध हो जायगा। नामजपसे सब काम होते हैं, 'हो सकते हैं'—नहीं! असम्भव भी सम्भव हो जाता है, 'हो सकता है'—ऐसा नहीं!

विधियज्ञसे दस गुना जपयज्ञ, उससे सौ गुना उपांशु जप, और उससे हजार गुना मानसजप कहा गया

है। आप मुखसे भी जप करो और मनसे भी जप करो तो एक सौ एक गुना जप होगा! लिखा हुआ नाम देखते रहें और बात भी करते रहें—यह दृष्टिजप है।

आड़ हमने लगायी है, भगवान्‌की ओरसे कोई आड़ नहीं है। पार्वतीजीने तपकी आड़ स्वयं लगा ली! ऋषियोंके मनमें तपकी बात थी, इसलिये तप करनेसे उनको भगवान् मिले। **भगवान् कहते हैं कि मैं तो तेरे सामने ही बैठा हूँ!!**

बच्चेमें यही शक्ति है कि माँ मेरी है। इस मेरेपनमें इतनी शक्ति है कि भगवान्‌को खींच ले! (२७.५.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—यह अन्तःकरण कहलाता है। अहम् और अहंकार एक नहीं हैं। अहम् अन्तःकरणको जाननेवाला है।

नींदसे ठीक पहले और नींदसे उठनेके ठीक बाद पहले अपनी सत्ताका अनुभव होता है, फिर मैंपनका अनुभव होता है। ऐसी स्थिति सदा रहनी चाहिये (४.६.१९७८, प्रातः ७.३०, वटवृक्ष जाते समय मार्गमें, ऋषिकेश)

*** *** ***

सत्संग करनेवालोंकी यह शिकायत रहती है कि सत्संगमें तो वृत्तियाँ ठीक रहती हैं, पर यहाँसे जानेके बाद वैसी वृत्तियाँ नहीं रहतीं! इसका समाधान इस तरह है। सत्संगमें आनेपर आप अपने घर-परिवारको तो नहीं भूलते, पर यहाँसे घर जानेपर सत्संगकी बात भूल जाते हैं! कारण यह है कि जैसे आप घरपर रहनेपर घरको अपना तथा अपनेको घरका मानते हैं, ऐसे सत्संगको अपना नहीं मानते।

हम भगवान्‌के हैं—यह बिल्कुल सच्ची बात है, पर हम इसको स्वीकार नहीं करते और अभ्यास करते हैं! हम संसारके नहीं हैं—इसको स्वीकार करते हैं और छोड़नेका प्रयत्न करते हैं! (२४.६.१९७८, सायं ७.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अपने गुरु आदि किसीकी भी महिमा कहनेवाला वास्तवमें तत्परतापूर्वक साधनमें नहीं लगा है। (२७.६.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवद्‌बुद्धिसे मूर्तिका ध्यान करना जड़का ध्यान नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का ही ध्यान है। (२८.६.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जो ठीक वक्तपर नहीं पहुँचता, समयका ठीक पालन नहीं करता, वह जीवनके किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी कार्यमें सफल नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, वह सत्यकी प्राप्ति भी नहीं कर सकता!

जो स्वीकृति तो दे देता है, पर काम नहीं करता, वह विश्वासघात करता है! (२८.६.१९७८, सायं ७ बजेकी प्रार्थनाके बाद, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

चाहे कर्मयोग करें, चाहे ज्ञानयोग करें, चाहे भक्तियोग करें, चाहे ध्यानयोग करें, वह बढ़िया तब होता है, जब स्वाभाविक होता है। **विशेष तैयारी तथा सावधानीसे साधन किया जाय तो उस साधनमें अभिमान**

रहता है। तात्पर्य है कि साधन करनेमें विशेष ध्यान देनेसे (जैसे '**समं कायशिरोग्रीवं०**' गीता ६। १३) **साधन तो अच्छा होगा, पर सिद्धि बड़ी देरसे होगी!** इसलिये साधन स्वाभाविक हो, हर समय हो। मैं ध्यान कर रहा हूँ—ऐसा पता भी न लगे, याद भी न रहे तो जल्दी सिद्धि होती है। जैसे, बालकका माँके साथ सम्बन्ध स्वाभाविक होता है, उसमें 'माँ मेरी है, मेरेको प्यार करती है' आदि भाव नहीं रहता। श्वास स्वाभाविक लेते हैं, पर बन्द करनेपर व्याकुल हो जाते हैं—ऐसे भगवत्स्मृति होनी चाहिये। हम भोजन करते हैं, श्वास लेते हैं, उठते-बैठते हैं आदि सब भगवान्‌के लिये (भजन) करते हैं। स्वाभाविक भजन करें। **साधनमें ऐसी स्वाभाविकता हो कि सोचना न पड़े। स्वाभाविक साधनसे तत्काल सिद्धि होती है।**

भगवान्‌के शरण न होना ही शरणागति है! कारण कि हम तो सदा ही उनके शरण हैं, स्वाभाविक ही शरण हैं, शरण क्या होंगे? शरणागतिमें केवल शरीर-संसारमें अपनापन ही बाधक है। भौतिक तथा व्यावहारिक दृष्टिसे भी अपना कुछ नहीं है।

जो किया जाय, वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो स्वतःसिद्ध है—'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम**' (गीता १३। २) 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतमें ज्ञान है।'

अपना कुछ नहीं है, हमें कुछ भी नहीं करना है—यह सबसे सुगम है। मैं माँका हो जाऊँ—ऐसा कोई नहीं कहता। बच्चा माँसे रूठ जाता है कि जा, मैं तेरा बेटा नहीं! वह ऊपरसे तो ऐसा कहता है, पर भीतरमें यही भाव रहता है कि मैं बेटा हूँ। ऐसे ही भगवान्‌से रूठ जायँ कि मैं तेरा भजन नहीं करूँगा, तो स्वाभाविक भजन होगा। परंतु यह बात उनके लिये है, जो वर्षोंसे भजन करते आ रहे हैं।

जो महात्मा अपने चरण नहीं छुआना चाहता, उसके चरण छू ले तो तुम्हारी विजय हो गयी! अब भगवान्‌को क्या प्राप्त करोगे! सन्त तो हार गये! अब उनसे क्या आपका कल्याण होगा?

'करना' और 'होना'—दोनोंमें मूर्खता है! साधन हो रहा है—इसपर दृष्टि मत डालो तो होना 'है' में बदल जायगा। जैसे, गंगाजी बह रही हैं—इसपर दृष्टि क्यों डालें? वह तो बह ही रही है। भगवत्कृपासे साधन हो रहा है। **होता है या नहीं होता, हमें परवाह नहीं, हम तो परमात्माके (अंश) ही हैं!** फिर होना 'है' में बदल जायगा। (२९.६.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जिसकी सत्संगमें बहुत कम रुचि है, वे भले ही प्रतिदिन सत्संगमें आते रहें, पर जिस दिन उनके कामकी विशेष बात होगी, उस दिन किसी-न-किसी कारणसे वे सत्संगमें नहीं आ पायेंगे! परंतु जिनकी सत्संगमें बहुत रुचि है, वे प्रतिदिन सत्संगमें न भी आ पायें, तो भी जिस दिन उनके विशेष कामकी बात होगी, उस दिन वे स्वतः वहाँ पहुँच ही जायँगे!

स्वाभाविक होनेवाले साधनमें परिश्रम नहीं करना पड़ता। जैसे, प्यास लगनेपर पानी पीनेमें, भूख लगनेपर भोजन करनेमें, नींद आनेपर सोनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। (३०.६.१९७८, सायं ७ बजेकी प्रार्थनाके बाद, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

प्रश्न—एक मृत जीव, जो अभी सर्पादि योनियोंमें है, स्वप्नमें आकर कहे कि मेरा उद्धार कर दो, तो वह स्वप्नमें कैसे आता है?

स्वामीजी—यह उसके भीतरका संकल्प होता है,, जिसको स्वप्नके द्वारा उसके सम्बन्धीतक पहुँचाकर भगवान् पूर्ण करते हैं। (६.७.१९७८, सायं ७ बजेकी प्रार्थनाके बाद, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नामजप कभी पूरा नहीं होता। उसमें यह नहीं देखते कि माला पूरी हो गयी, जबकि समय भी आपके पास है और नाम भी। इसलिये **नाममें आराम नहीं है। जिसको नामकी संख्यामें सन्तोष होता है, जो तीन लाख नाम लेकर फिर आराम करता है, उसका नामजप अभी शुरू ही नहीं हुआ!** जैसे श्वास बन्द नहीं होते, ऐसे नामजप भी बन्द नहीं होना चाहिये। शरीरका जीवन श्वाससे है, स्वयंका जीवन भगवान्‌से है। (७.७.१९७८, प्रातः ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

श्रोता—कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन क्या है?

स्वामीजी—जैसे, कोई आदमी धनके लिये काम करता है, वह धनका पूजन करता है। कोई आदमी संसारके लिये काम करता है, वह संसारका पूजन करता है। कोई आदमी अपने स्वरूपके लिये काम करता है, वह स्वरूपका पूजन करता है। कोई आदमी अपने कुटुम्बके लिये काम करता है, वह कुटुम्बका पूजन करता है। इसी तरह केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कार्य करना भगवान्‌का पूजन है।

'होने' में चिन्ता न करें और 'करने' में भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करें।

'पूजन' सभी कर सकते हैं। इसमें सब सर्वथा समर्थ हैं। इसीलिये यह शरीर मिला है। ऐसी बुद्धि केवल मनुष्यशरीरमें ही है।

जैसे पतिव्रता (कुटुम्ब छोड़कर) अपने पतिके पास बैठ जाती है, ऐसे भगवान्‌के पास बैठ जाय, और सारा कार्य उनकी प्रसन्नताके लिये करे।

श्रोता—हम तो भगवान्‌में लगनेकी इच्छा करते हैं, पर मन इन्द्रियोंकी तरफ खिंचता है!

स्वामीजी—भगवान्‌को पुकारो 'हे नाथ! हे नाथ!!' दुःखी होकर पुकारो, जैसे चोर-डाकू आनेपर पुकारते हो। भगवान् तो हरदम तैयार बैठे हैं! पुकारते ही काम बन जायगा! (८.७.१९७८, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मैं शरीरसे सर्वथा अलग हूँ—इसमें दो प्रमाण हैं—

१) शरीर पहले भी नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा, और

२) शरीर जवान तथा बूढ़ा हो गया, पर मैं वही हूँ।

शरीर और स्वयं सर्वथा अलग-अलग हैं—यह बात जँचे या न जँचे, समझमें आये या न आये, व्यवहारमें इसपर दृष्टि रहे या न रहे, आचरणमें आये या न आये, पर **'बात यह सच्ची है', बस, इतना ही मान लें तो बादमें (पकनेके बाद) यह बात प्रत्यक्ष हो ही जायगी, यह पक्की बात है!!** हमारेमें कामना आ जाय, वासना आ जाय, काम-क्रोधादि दोष आ जायँ तो वे आये हैं, चले जायँगे। शरीर भी आया था, चला जायगा। उनपर ध्यान न दें। केवल यह मान लें कि 'यह बात तो बिलकुल सच्ची है'।

मान लो कि सामने पर्वतपर एक मन्दिर है, तो वहाँ जानेके दो उपाय हैं—पहला, रास्तेको देखकर उसपर चलता रहे तो मन्दिरतक पहुँच जायँगे, और दूसरा, सामने मन्दिरको देखकर उसकी तरफ सीधा चलें तो भी ठोकरें खाते जैसे-तैसे मन्दिरतक पहुँच जायँगे। 'मुझे जड़तासे, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है'—यही वह मन्दिर है, जहाँतक हमें पहुँचना है। अब चाहे नामजप, भजन, ध्यानादि साधनोंके मार्गपर चलते

हुए वहाँतक पहुँचें, चाहे 'बात यही सच्ची है'—ऐसा मानकर सीधा चलें तो भी पहुँच जायँगे। (१०.७.१९७८, प्रातः ८, वटवृक्ष जाते समय मार्गमें, ऋषिकेश)

*** *** ***

मच्छर, खटमल आदि संसारके सभी जीव दयाके, प्यारके पात्र हैं। उनको मारनेका आपको अधिकार नहीं है। मनुष्योंकी सामर्थ्य दूसरोंका नाश करनेके लिये नहीं मिली है। आप छोटोंपर दया नहीं करोगे तो आप भगवान्‌की दया माँगनेके अधिकारी नहीं हैं। मच्छर तो केवल आपका खून ही पीते हैं, मार तो नहीं देते, पर आप क्या करते हैं? अपना नाश कोई भी नहीं चाहता। मनुष्य तो श्राद्ध-तर्पण आदिसे सबको तृप्त करता है।

हमें गुरुसे सीखनेकी आवश्यकता नहीं है। शरीर मिला ही है भगवत्प्राप्तिके लिये। जैसे ***'प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर'***, ऐसे ही जिस परमात्माने माँके स्तनोंमें रक्तका भी दूध बना दिया, उस परमात्माने क्या भगवत्प्राप्तिकी सामग्री नहीं दी? अगर मनुष्य अपने अनुभवका आदर करे तो उससे उद्धार हो जाय।

जबतक अभिमान है, तबतक कर्मयोगी, ज्ञानयोगी तथा भक्तियोगी है। साधनकी सिद्धि होनेपर न कोई कर्मयोगी है, न ज्ञानयोगी है, न भक्तियोगी है।

सीताजीकी खोज करते समय हनुमान्‌जीके मनमें आया कि मेरेमें कोई विकार नहीं आया; क्योंकि मैं स्त्रीको नहीं खोजता हूँ, प्रत्युत माँको खोजता हूँ। यह अहंताका परिवर्तन है।

लंकामें एक विभीषण ही जीता था, बाकी सब मुर्दे थे। इसलिये उनको आग लगा दी!

भक्तकी दृष्टि भगवान्‌के जिस अंगपर जाती है, वह उसी भावका अधिकारी होता है। भक्त दास्यमें चरणोंको देखेगा, माधुर्य और सख्यमें नेत्रोंको देखेगा। वात्सल्यमें मुखको देखेगा। शबरीने भगवान्‌के चरणोंको देखा। विभीषणने भगवान्‌की भुजाओंको देखा। (३०.५.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मेरा रहना तथा शरीरका बहना तो सच्चा है, पर दोनोंका सम्बन्ध कच्चा है। **अगर बहनेवालेसे अपनेको अलग मान लें कि 'मैं हूँ' तो अपने होनेपनका अटल, निश्चल ध्यान हो जायगा।** इस ध्यानमें कोई बाधा कैसे आयेगी? चंचलता कैसे आयेगी? हम अपनी जगह बिना प्रयत्नके विद्यमान हैं और शरीरका वियोग भी बिना प्रयत्नके हो रहा है। इसको माननेमें कोई परतन्त्र, अपात्र, निर्बल, अनधिकारी नहीं है। शरीर उठता, बैठता, चलता है, मैं नहीं। मैं ज्यों-का-त्यों हूँ। (३१.५.१९७९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसारका विश्वास ही परमात्माके विश्वासमें बाधक है। भगवान्‌पर विश्वास कैसे हो? इसके लिये एक सन्तने कहा था कि पासमें एक कौड़ी भी मत रखो और अकेले ऋषिकेशसे पैदल कलकत्ते चले जाओ तो विश्वास हो जायगा। रास्तेमें जो अन्न-जल मिलेगा, वह अपने कर्मका फल भी हो सकता है और पिछले जन्मके सम्बन्धियोंके द्वारा दिये पिण्ड-श्राद्धका फल भी। ऐसा मालूम होगा कि कोई एक शक्ति है, जो रक्षा करती है। परदा रखनेवाली मीराबाई पैदल अकेले द्वारका चली गयी!

जब संसारको अपने साथ नहीं मानोगे, तभी भगवान्‌का साथ दीखेगा। (१.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जिस समय मूर्च्छा हुई, उस समय जो चिन्तन हुआ, उसीके अनुसार मनुष्यकी गति होगी। अन्तिम

श्वासमें जब मूर्च्छा टूटती है, तब वही चिन्तन होगा, जो मूर्च्छाके समय हुआ था।

हमें दीखता है कि प्रह्लादको, मीराको कितना दुःख हुआ, पर उनसे पूछो कि क्या हुआ? भक्तोंको दुःख होता ही नहीं। उनके मनमें तो आनन्द रहता है। अगर वे दुःखी होते तो भजन छोड़ देते; प्रह्लादको राज्य मिल जाता।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

(मानस, सुन्दर० ३२। २)

तात्पर्य है कि सीताजीके मनमें दुःख था ही नहीं। सीताजीके दर्शन करके हनुमान्‌जीकी भी चिन्ता मिट गयी! (३.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अपनी वस्तु सबको प्रिय लगती है। भगवान्‌को अपना माननेसे प्रेम स्वतः जाग्रत् होता है। अगर प्रेम नहीं हुआ तो अपनापन नहीं किया है या अन्यको भी अपना माना है।

मनुष्य संसारका काम करता है या भगवान्‌का—यह बाहरसे पता नहीं लगता। सम्बन्ध भीतरसे होता है। भगवान्‌का काम करनेवाला सदा प्रसन्न रहता है। उसपर सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिका असर नहीं पड़ता। परंतु भगवान्‌को अपना मानकर काम करनेसे सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। अगर होते हैं तो अपनेपनमें कमी है।

भगवान्‌का स्मरण करनेवालेपर दिन-रात, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, उत्तरायण-दक्षिणायन आदिका कोई फर्क नहीं पड़ता। भीष्मजी वसुदेवता थे, इसलिये उनको स्वर्ग जाना था। दक्षिणायनमें स्वर्गका दरवाजा बन्द रहता है। वे इच्छामृत्यु थे, इसलिये सत्संगके लिये यहीं ठहर गये। (४.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

साधन-भजन करनेवालेको जो कष्ट आते हैं, वे 'तप' होते हैं।

जैसे करोड़ों रुपये पासमें हों तो भी एक रुपयेको छोड़ते नहीं, ऐसे ही कितना ही ऊँचा साधन करे, नामजपको, गंगास्नानको छोड़े नहीं। सारी पूँजी सँभालकर रखे।

कीर्तन एकान्तमें करे। मानसिक कीर्तन करे। सबके सामने तब करे, जब लोग कहें। कीर्तन भगवान्‌के सामने करना चाहिये। मनुष्योंके बीचमें कीर्तन करनेमें बड़ा सावधान रहना चाहिये। लोगोंके बीचमें कीर्तन करनेसे वह लोगोंका कीर्तन होता है, और अपनेमें कोई कमी रहती है। सच्चे भक्तोंमें दिखावा नहीं होता। जनताके सामने कीर्तन करनेसे असभ्यता होती है। वहाँ प्रदर्शन होता है। सच्चा कीर्तन जनताके सामने हो ही नहीं सकता। कारण कि जनताके सामने अच्छे भाव नहीं आते, सच्चे कीर्तनमें रुकावट होती है। कीर्तन देखनेवालोंमें क्या पता किसका क्या भाव है? कोई दुर्भाववाला हो तो उसके देखनेसे कीर्तनमें बाधा लगती है।

निर्जला एकादशीको (सुबह-शामके सिवाय) दोपहरमें भी नहाना चाहिये; क्योंकि भीम भी दोपहरको नहाये थे।

भीमको भगवान्‌पर बड़ा विश्वास था। सन्तोंसे सुना है कि सभी पाण्डव भोजनसे पहले भगवान्‌को भोग लगाते थे। भीम भोजनकी सारी थालियाँ इकट्ठी कर देते। फिर अपनी गदा ऊपर फेंककर अपना सिर नीचे कर देते और कहते कि प्रभो! बचाना है तो बचाओ। भगवान् तुरन्त आकर गदा पकड़ लेते, तब भीम कहते

कि अब भोग लगाओ!! (६.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सत्संगमें बात तभी समझमें आती है, जब भीतर यह भाव रहे कि अब हमें सत्संगके सिवाय कुछ नहीं करना है, चाहे यहीं मर जायँ! तभी लाभ होगा। अगर सत्संग सुनते समय भीतर यह भाव रहे कि यहाँसे जाकर अमुक-अमुक काम करने हैं तो लाभ नहीं होगा। (७.६.१९७९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

शरीर, परिस्थिति आदि तो बदलते हैं, पर आप नहीं बदलते। आप वही रहते हो। जो नहीं बदलता, वही मैं हूँ—इस बातका आदर करो, इसपर दृढ़ रहो। फिर यह परीक्षा मत करना कि संसारका असर 'मैं' पर, मन-बुद्धि आदिपर हुआ कि नहीं? 'मैं' पर अनुकूलता-प्रतिकूलता असर हो गया तो मेरी स्थिति वैसी नहीं रही—यह मत देखना, उपेक्षा कर देना। यह बात सुननेसे पहले जैसा असर पड़ता था, सुननेके बाद भी वैसा असर पड़ा—यह देखो ही मत, परीक्षा करो ही मत। यह विचार ही मत करो कि निर्विकारता आयी या नहीं आयी अथवा क्यों नहीं आयी? भगवान् संसारमात्रके मालिक हैं तो क्या हमारे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके मालिक नहीं हैं? इनको अपना मानकर हमने गलती की। इसलिये इनका विचार ही मत करो, परीक्षा ही मत करो, उधर देखो ही मत। **परीक्षा करते ही आपका शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें अपनापन (सम्बन्ध) दृढ़ हो जायगा!** बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा!

आप मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें परिवर्तन क्यों देखना चाहते हो? तत्त्वकी ओर क्यों नहीं देखना चाहते? जिससे अपना सम्बन्ध नहीं, उस कुत्तेको देखते हो क्या कि उसमें क्या परिवर्तन हुआ? देखते ही फँस जाओगे! क्योंकि देखते ही ममता आ जायगी। इसलिये असर पड़ता है तो पड़ता रहे।

वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं। जीवन्मुक्त महापुरुषके लिये कहा है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो भी इनकी इच्छा नहीं करता।'

चाहे घोर रजोगुणी अथवा तमोगुणी वृत्ति हो जाय, होने दो! चाहे जैसी वृत्ति हो, वृत्तिका होना गलती नहीं है, आपका करना अथवा वृत्तिको पकड़ना गलती है। यदि कभी पकड़ भी लो तो भी परवाह नहीं, फिर छोड़ दो!

'करना' व्यक्तिगत होता है, 'होना' समष्टिगत होता है। जिस शक्तिसे समष्टि (संसारमात्र)-की क्रियाएँ हो रही हैं, उसी शक्तिसे व्यष्टि (शरीर-अन्तःकरण)-की क्रियाएँ हो रही हैं। आप 'करनेवाले' मत बनो। आप कोई हिंसा करोगे तो उसका पाप आपको लगेगा, पर संसारमें हिंसा हो रही है, उसका पाप आपको नहीं लगता। कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि कुछ नहीं करना है। **जहाँ कुछ भी 'करना' है, वहाँ जड़के साथ सम्बन्ध है। जहाँ कुछ भी 'न करना' है, वहाँ चिन्मयताके साथ सम्बन्ध है।** 'करने' की हमपर जिम्मेवारी होती है, पर 'होने' की हमपर जिम्मेवारी नहीं होती। 'होने' में राजी-नाराज हो गये तो वह 'करना' हो जायगा।

वृत्ति उत्पन्न और नष्ट होती है, पर आप उत्पन्न और नष्ट नहीं होते। फिर आप वृत्तिके साथ क्यों बैठते हो? **आप साथ देते हो, तभी वृत्ति खराब होती है, अगर साथ न दो तो वृत्ति खराब होगी ही नहीं।**

आप साथ न दो तो खराब वृत्ति टिकेगी नहीं। **कठिनता इसलिये दीखती है कि आपने वृत्तिके साथ रहनेका स्वभाव बना लिया, आदत बना ली। वह आदत छोड़नेमें कठिनता मालूम देती है। बुरी-से-बुरी वृत्तिको भी आपसे ही बल मिलता है।**

ये बातें सुननेके बाद चाहे जैसी सुखदायी-दु:खदायी परिस्थिति आये, उसको भोग लो, पर सच्ची बात मत छोड़ो। जो बात सत्य है, वह न बढ़िया है, न घटिया है, न सुगम है, न कठिन है, वह तो है। (८.६.१९७९, प्रात: ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अच्छी-बुरी जो वृत्ति आये, उसको देखे नहीं।

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस, उत्तर० ४१)

'हे तात! सुनो। मायासे रचे हुए ही अनेक गुण और दोष हैं (इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है)। गुण (विवेक) इसीमें है कि दोनोंको ही न देखें। इन्हें देखना ही अविवेक है।'

देखनेमें दोष है, दीखनेमें नहीं। दीखनेवाली चीज (वृत्ति आदि)-को हम देखने लग जाते हैं! देखनेसे उसका असर पड़ता है। दीखनेवाली चीजसे राजी-नाराज होना ही 'देखना' है, उसको पकड़ना है। दोष उतने बुरे नहीं, जितना बुरा उनको पकड़ना है। पहले तो वृत्तिको देखो नहीं, दीख जाय तो देखकर छोड़ दो, परवाह मत करो।

निरन्तर नामजप करो, फिर सब कुछ स्वत: हो जायगा। इससे भी उत्तम है—सब जगह परमात्मा 'है' रूपसे विद्यमान हैं। **वह 'है' ज्यों-का-त्यों विद्यमान है और दीखनेवाला दृश्य बदल रहा है। इस बातको जितनी दृढ़तासे पकड़ सकें, पकड़ लें। फिर सब कुछ इसीमें आ जायगा, कुछ भी शेष नहीं रहेगा।** (८.६.१९७९, सायं, सन्त-निवास, गीताभवन नं० ३ की छतपर)

*** *** ***

श्रोता—यह संसार भी तो भगवान्‌का ही पसारा है। इसलिये संसारको भी भगवत्स्वरूप मानें तो क्या यह भी अनन्यता है?

स्वामीजी—संसार तभी भगवत्स्वरूप है, जब वह हमें भोग तथा संग्रहके रूपमें नहीं दीखता। जैसे गहनोंमें सोना तत्त्व है, ऐसे संसारमें परमात्मा तत्त्व है। आप तत्त्व (सोने)-को देखें, अलग-अलग गहने, उनके रूप, आकार, तौल आदिको नहीं। समुद्रको देखें, लहरोंको नहीं। लहरें समुद्रकी हैं या समुद्र लहरोंका है? जिसने संसार पसारा है, उसको देखें, पसार (संसार)-को नहीं। (२४.६.१९७९, प्रात: ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सत्संग वृक्षोंके नीचे ठीक रहता है, भवनके भीतर नहीं; क्योंकि वृक्ष सात्त्विक हैं, भवन राजसी (बनावटी) है।

सगुण उपासना इसलिये सरल है कि भगवान् अपने ही समान मनुष्यकी लीला करते हैं। अत: उनमें शीघ्र मन लगता है। भगवान्‌की लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, महिमा आदिके आधारपर भगवान्‌के अनेक नाम (जैसे, विष्णुसहस्रनाम) बने हैं। उनमें अधिक मन लगता है, उनके गुण मनमें आते हैं। इसलिये सेठजी

(श्रीजयदयालजी गोयन्दका) नापजपकी अपेक्षा विष्णुसहस्रनामकी अधिक महिमा कहते थे।

लीला पढ़ते-सुनते समय मन कहीं चला भी जाय तो तुरन्त वापिस लग जाता है; परंतु तात्त्विक बातोंमें मन चला जाय तो पुनः विषयको समझना कठिन होता है। हाँ, मनको गहरा लगाया जाय तो तात्त्विक बातोंसे बहुत शीघ्र परिवर्तन होता है।

हमें तो सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सब बहुत सुगम लगते हैं! केवल मनमें करनेकी लालसा हो जाय। नींद आनेपर सोनेमें क्या कठिनता होती है? (२४.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान्‌को पत्नी माननेकी बात शास्त्रोंमें नहीं आयी है। कारण कि **एक भगवान् ही पुरुष हैं, शेष सभी स्त्रियाँ हैं—सारा प्रपंच स्त्री है।** ऐसा कोई भक्त नहीं हुआ, जिसने भगवान्‌को पत्नी, स्त्री बनाया हो। भगवान् अपनी इच्छासे कई बार स्त्री (सखूबाई आदि) बन गये, पर भक्तने नहीं बनाया।

'पुरुष' वह है, जिसमें कमी न हो। जो पूर्ति करे, कमीको दूर करे। 'स्त्री' वह है, जिसमें कमी हो, जरूरत हो। इसलिये जबतक किसी भी वस्तुकी जरूरत है, तबतक वह स्त्री है। (२५.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

राजाका सिपाही सबपर शासन करता है, पर भगवान्‌का दास सबका शासन मानता है। वह अत्यधिक नम्र तथा सरल होता है। कारण कि वह सबमें भगवान्‌को देखता है—***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** (मानस, किष्किन्धा० ३)। (२६.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मारनेवाला पशु भले ही भूखा रहे, पर मरनेवाले पशुको बचानेकी चेष्टा करना चाहिये। भूखा रहनेमें दोष नहीं है। मारनेवालेकी तृप्ति तो थोड़ी देरके लिये होगी, पर मरनेवाला तो सदाके लिये चला जायगा! (२८.६.१९७९, प्रातः ८.१५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

त्यागमें स्वतन्त्रता है, मृत्युमें परतन्त्रता है। त्यागमें शान्ति है, मृत्युमें अशान्ति है। त्यागके बाद जन्म नहीं होता, मृत्युके बाद जन्म होता है। त्यागमें जड़तासे भीतरसे सम्बन्ध-विच्छेद है, मृत्युमें बाहरसे सम्बन्ध-विच्छेद है। (२९.६.१९७९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कामादि दोष आ जायँ तो 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारो। बार-बार कहो कि 'हे नाथ! मुझे छुड़ाओ, मुझे बचाओ'! 'हे नाथ! बड़ी आफत आ गयी! इसको छोड़ सकता नहीं, क्या करूँ!' चालीस-पचास बार फेल हो जायँ तो हो जायँ, पर पुकारना मत छोड़ो। कभी-न-कभी भीतरसे एक बार पुकार निकली कि चट दोष दूर हो जायगा।

भगवान्‌को पुकारनेमें तीन बातें होनी चाहिये—

१) अन्य साधनोंसे निराश होकर पुकारें।

२) हृदयसे, व्याकुल होकर पुकारें।

३) पुकारकर फिर निश्चिन्त हो जायँ, फिर चाहे कुछ भी हो। फिर (दोष हटाने आदिमें) बल लगाना गलती है। (१.१२.१९७९, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

भक्तिके आचार्य होनेपर भी हनुमान्‌जी कहते हैं—***'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'*** (मानस, किष्किन्धा० ३। २)। कितनी सरलता है! कभी-कभी भक्तके भीतर भी अभिमान आ जाता है तो उसमें भी भगवत्कृपा होती है। कोई अभिमानका अंकुर भीतर रहता है तो उसको उभाड़कर भगवान् उसको नष्ट कर देते हैं। जैसे, फोड़ेको पहले उभाड़कर फिर डॉक्टर उसमें चीरा लगाता है। नारदजी भी कामके अधीन तो नहीं हुए, पर अभिमानके अधीन हो गये! (२.१२.१९७९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

स्वप्न अथवा मनोराज्यमें पित्तकी प्रधानता होनेपर आग आदि दिखायी देते हैं, कफकी प्रधानता होनेपर जल आदि दिखायी देते हैं, वातकी प्रधानता होनेपर हवामें उड़ना आदि दिखायी देते हैं। पिछले संस्कार भी होते हैं।

प्राणायामसे आयु बढ़ती है। कारण कि आयु श्वासोंपर निर्भर है। बोलनेसे १२ श्वास, तेज चलनेसे १८ श्वास, और स्त्रीसंगसे ३० श्वास खर्च होते हैं। एक घण्टेमें सामान्य रूपसे ९०० श्वास चलते हैं।

क्रियामात्रमें बल प्राणोंका ही है। प्राणोंसे ही सब कियाएँ होती हैं। (२.१२.१९७९, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

अभ्यास करना और आदर (महत्त्व) देना—दोनों भिन्न-भिन्न हैं। 'अभ्यास' से स्थिति बनती है और 'आदर' से अनुभव होता है। बात तो ऐसी ही है—यह मानना ही आदर है। अभ्यासका मार्ग लम्बा है। आदरसे सीधे तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

संसारका बीज स्वयं अंकुरित नहीं होता। हमारा साथ देनेपर ही संसारका बीज पनपता है। दोषोंमें स्वयं सत्ता नहीं है। हम ही उनको स्वीकार करके सत्ता देते हैं। जब स्वयं प्रकृतिको स्वीकार करता है, तभी दोष आते हैं। जितने अंशमें असत्‌की सत्ता स्वीकार की है, उतने ही अंशमें दोष आता है। परंतु तादात्म्यके कारण साधक यह निश्चय नहीं कर पाता कि दोष मुझमें हैं या प्रकृतिमें?

सत्संग सुनते समय तो चेतन-अंश उद्‌बुद्ध रहता है, पर सत्संगके बाद जड़-अंश उद्‌बुद्ध हो जाता है।

जैसे पागल कुत्ता किसीको काट ले तो वह मनुष्य भी पागल हो जाता है। ऐसे ही अनुभवी सन्तके पास जाकर सत्संग करनेपर दाँत लग जाते हैं! अब कभी-न-कभी उसका असर होगा ही, बच नहीं सकते!!

सत्संगकी बातें, संस्कार एक बार भीतर पड़ जानेपर उनपर ब्याज लगता रहता है! समयपर वे बातें झट सामने आ जाती हैं। (२३.१२.१९७९, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

श्रोता—भगवद्‌भाव कैसे बने?

स्वामीजी—भगवद्भाव बनाना ही गलती है! मैं बात काटनेकी दृष्टिसे नहीं, सावधानीकी दृष्टिसे कहता हूँ। **वास्तवमें तो परमात्मा ही है, संसारकी भावना कर ली! अतः यह विचार करना चाहिये कि संसारकी भावना कैसे मिटे?** भगवद्‌भाव बनेगा नहीं, उसका अनुभव होगा; क्योंकि वह 'है'। तात्पर्य है कि भगवद्‌भाव लानेके लिये संसारका भाव मिटाना आवश्यक है।

जैसे, रुपयोंको देखें तो आँखसे कागज दीखता है, पर बुद्धिसे सौ रुपये दीखते हैं। कागज तो कच्चा है, पर सौ रुपये पक्के हैं। ऐसे ही दीखनेवाला संसार कच्चा है, पर उसमें परमात्मा पक्का है! ऐसे संसारमें परमात्माको देखें। (२४.१२.१९७९, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (छान्दोग्य० ६। २। १) 'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था'। यहाँ तीन पद आये हैं—**'सत्', 'एव'** तथा **'आसीत्'**। तीनोंका अर्थ एक ही है, फिर अलग-अलग क्यों कहे गये?

सत्=वह 'है'।

एव=तीन भेद होते हैं—विजातीय भेद (वृक्ष, पशु), सजातीय भेद (पीपल, नीम) और स्वगत भेद (वृक्ष, टहनी, फूल)। ये तीनों भेद नहीं थे, केवल एक ही तत्त्व था।

आसीत्=कालवासनासे युक्त सुननेवालोंके लिये कहते हैं कि पहले सत् ही था। वास्तवमें वह सदासे ही है। तात्पर्य है कि पहले केवल परमात्मा ही था। उसीकी जगह यह संसार है। संसार तो हमारी भावनासे दीखता है, सोनेमें गहनेकी तरह।

*** *** ***

श्रोता—गोपियोंके समान प्रेम हो सकता है?

स्वामीजी—अपने उद्योगसे तो नहीं हो सकता, पर भगवान्‌के अनन्य आश्रयसे, उनकी कृपासे ही हो सकता है। (३०.१२.१९७९, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

भगवान्‌से वार्तालाप करना बहुत बड़ा साधन है। भगवान्‌से बातें करो। बातें करनेसे वे बहुत राजी होते हैं। उनको अपने पास समझकर बातें करनेसे वे कभी पास भी आ जायँगे!! (३१.१२.१९७९, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

एक व्यापक प्रश्न है—काम कैसे चलेगा? विचार करें कि यह प्रश्न कबसे पैदा हुआ? जब प्रश्न पैदा नहीं हुआ था, तब काम कैसे चलता था? **जबतक समझ नहीं आयी थी, तबतक बिना चिन्ताके काम चलता था। जब समझ आयी, तब चिन्ताके साथ काम चला!** तो यह समझ आयी या आफत आयी? यह समझ हुई या बेसमझी? मैं काम करनेको मना नहीं करता। काम कैसे चलेगा—इसका अर्थ है चिन्ता, न कि काम करना। क्या 'काम कैसे चलेगा'—यह चिन्ता करनेसे काम चलेगा और चिन्ता न करनेसे काम नहीं चलेगा? मनुष्यको इतनी शक्ति दी है कि वह दुनियाकी चिन्ताको मिटा दे! उसकी बात लोग मान लें तो उनकी चिन्ता दूर हो जाय! (२.१.१९८०, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

लोगोंमें अपनी झूठी निन्दा हो तो उसका लोगोंमें स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिगत रूपसे सपष्टीकरण कर सकते हैं, पर सामूहिक रूपसे स्पष्टीकरण करना ठीक नहीं। ऐसा करना अपनी कमजोरी है कि उस निन्दाको हम सह नहीं सके! (६.१.१९८०, सायं ६.१५, बीकानेर)

*** *** ***

रामजीको चौदह वर्षका ही वनवास क्यों? रामजीके राज्याभिषेकका उत्सव चौदह दिन हुआ था। मन्थराने कैकेयीसे कहा कि इतने दिन हो गये, तुझे अभीतक पता नहीं? अब बदलेमें जितने दिन उत्सव हुआ, उतने वर्ष वनवास माँग ले। (१९.३.१९८०, सायं ३.४५, श्रीरामधाम अतिथि सदन, वृन्दावन)

*** *** ***

माँ कैकेयी हो तो आप राम बन जाओ। पिता हिरण्यकशिपु हो तो आप प्रह्लाद बन जाओ। पति रावण हो तो आप मन्दोदरी बन जाओ। (२०.३.१९८०, प्रातः ८, वृन्दावन)

*** *** ***

जो किसी भी व्यक्तिको अपनेसे बड़ा मानता है, उसने 'ईश्वरवाद' को स्वीकार कर लिया। जो किसी भी व्यक्तिसे अपनी रक्षा चाहता है, उसने 'शरणागति' को स्वीकार कर लिया। (११.४.१९८०, रात्रि, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

श्रोता—कुम्भका स्नान हरिद्वारमें करें या यहाँ (ऋषिकेशमें) करें?

स्वामीजी—लक्ष्मणझूलासे हरिकी पैड़ीतकका इलाका 'हरिद्वार' है। सेठजी कहते थे कि उत्तराखण्डमें ऊपर जितना आगे जायँ, उतना उसका (गंगाका) अधिक माहात्म्य है।

भगवान् मिल जायँ तो प्रेम मिल जाय—यह नियम नहीं है। परंतु प्रेम हो जाय तो भगवान् मिल जायँगे—यह नियम है।

बच्चा अधिक हँसता है तो माँको चिन्ता होती है कि इतना क्यों हँसता है, कोई आफत आनेवाली है! ऐसे ही सुख आ जाय तो समझ ले कि कोई आफत आनेवाली है!! (१२.४.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान् अपने हैं—यह सुनी हुई बात है। पदार्थ अपने नहीं हैं—यह देखी हुई बात है। कोई एक बात मान लो। न सुनी हुई बात मानोगे, न देखी हुई बात मानोगे तो फिर क्या मानोगे!! (१३.४.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मैं साधु हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ आदि मानते हुए 'मैं भगवान्‌का हूँ'—नहीं कहना है। 'मैं त्यागी हूँ'—यह भी 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इसीमेंसे कटेगा। जैसे, चैक काटनेपर बैंकमें उतने पैसे शेष नहीं रहते।

'मैं साधु हूँ'—ऐसा मानेंगे तो कहीं साधुका तिरस्कार होनेपर उसका असर अपनेपर पड़ेगा। (१४.४.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अन्नका दोष लगता है, पर भजन अधिक होगा तो दोष नहीं लगता। भगवान्‌रूपी अग्निमें सब जल जाता है। भजन, जप कम होनेपर ही अन्नदोष लगता है।

गंगास्नान, सन्त-दर्शन आदिका फल तो महान् है, पर मिलता है अपनी नीयतके अनुसार।

किसी शब्दका अर्थ प्रकरण (प्रसंग)-के अनुसार लेना चाहिये, अन्यथा शब्द तो कामधेनु है—चाहे जैसा अर्थ निकाल लो। (१८.४.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जैसे दर्पणमें अपना मुख दीखनेपर भी हम उसे मानते नहीं, ऐसे ही संसार दीखनेपर भी उसे माने नहीं। (२०.४.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

वास्तवमें अपनेको शरीरसे अलग माना है या नहीं—इसकी परीक्षा पीड़ाके समय होती है। पीड़ाका साफ-साफ ज्ञान तो होगा, पर दुःख नहीं होगा। अगर शरीरमें पीड़ा होनेपर व्याकुलता होती है तो फिर अपनेको शरीरसे अलग माना ही कहाँ? केवल सीख लिया है। परंतु पीड़ाका इलाज कराने, दवा लगाने, दूसरेसे कहने आदिमें कोई हर्जा नहीं है। (२१.४.१९८०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नींद इस बातका अनुभव कराती है कि सुख सांसारिक वस्तु-व्यक्तियोंके वियोगसे होता है, संयोगसे नहीं। (२१.४.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

चाहे युगलकी मूर्ति रखो, चाहे केवल कृष्णकी। केवल कृष्णकी मूर्ति रखो तो भी कृष्णके अन्तर्गत ही राधा है। राधा-कृष्ण दो तत्त्व नहीं हैं, एक ही हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने जितनी श्रद्धा-भक्तिसे श्रीरामचरितमानस लिखी, उतनी श्रद्धा-भक्तिसे रामायण-महाभारत नहीं लिखे गये। (५.५.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

पैसोंसे उपकार होता है—ऐसा भाव रहनेसे मन-बुद्धिमें पैसोंका महत्त्व रहेगा ही। जो देनेमें उपकार मानता है, जिसमें देनेकी इच्छा (राग) है, उसको मँगता, दरिद्री, पैसोंका दास बनना ही पड़ेगा।

जिसके भीतर पैसोंका महत्त्व है, वह भगवान्‌का दास नहीं हो सकता। (६.५.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जहाँ मैं हूँ, वहाँ (सत्तामें) कोई विकार नहीं है—ऐसा मान लें, चाहे अनुभव न हो। (७.५.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नींदके बिना रहा नहीं जाता—यह सिद्ध करता है कि संसार आपका साथी नहीं है। (१.६.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

लेनेका भाव पतन करनेवाला है। साधु और ब्राह्मणकी दुर्दशा होगी; क्योंकि उनमें 'लेने' की ग्लानि मिट जाती है—लेनेका भाव पैदा हो जाता है। अतः उनको सावधानी रखनी चाहिये। (२६.६.१९८०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

गीताकी महिमा इसलिये है कि इसमें मनुष्यमात्रका अनुभव है, जबकि अन्य शास्त्रोंमें उनके रचयिताके अपने अनुभवका वर्णन है। विनयपत्रिकामें सभी साधकोंके मनका भाव है। (२८.६.१९८०, प्रातः ५,

गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

पुण्यका अर्थ होता है—पवित्रता, निर्मलता। पापका अर्थ होता है—मलिनता। मनमें पुण्यका भाव आया तो मन पवित्र हो ही गया! जैसे, भागवत सुननेकी मनमें आते ही भगवान् आ जाते हैं। पापका भाव आनेसे मन अपवित्र हो ही जाता है।

'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥' (मानस, उत्तर० १०३। ४)—यह छूट साधकोंको नहीं लेनी चाहिये।

सेवा करनेसे दूसरेका पुण्य भी मिल सकता है। जैसे, सेवा करनेवाली स्त्री पतिके आधे पुण्यकी भागी होती है। अच्छे पुरुषोंकी सेवा करनेसे, उनके अनुकूल चलनेसे, उनको राजी करनेसे उनका पुण्य मिलता है।

कोई कोसों दूर साधन कर रहा हो तो उसे सुनकर सन्त राजी होते हैं। सन्तका राजी होना निष्फल नहीं जाता, महान् पुण्य होता है!

शास्त्रीय रीतिसे मन्दिर वही बढ़िया होता है, जिसमें ईश्वरकोटिके पाँचों देवोंकी प्रतिमाएँ हों। जैसे, बीचमें विष्णु भगवान्‌की प्रतिमा हो तो चारों तरफ अन्य चार देवोंकी प्रतिमाएँ हों।

श्राद्ध-तर्पण, नाम-जप, कीर्तन आदि करनेसे मृतात्माकी याद नहीं आती; क्योंकि कर्जा उतर जाता है।

सिरमें पीड़ा होती है तो वह पीड़ा भी प्रतिक्षण मिट रही है और जिस पापसे पीड़ा होती है, वह पाप भी मिट रहा है, तो पीड़ा होनेमें लाभ ही है! काँटे (सुई)-से काँटा निकल रहा है! पीड़ाको भी भगवान्‌के रूपमें देखें। (२.७.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कोई काम पड़े तो 'अगर इस समय सीताजी होतीं तो क्या करतीं'—ऐसे सीताजीका ध्यान करे तो बुद्धि प्राप्त हो जाती है। (४.७.१९८०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जिस क्षणमें शुकदेवजीका जन्म हुआ, उस क्षणमें उत्पन्न सभी पुरुष विरक्त हुए—ऐसा सन्तोंकी वाणीमें आता है। उस समय भगवान्‌ने माया समेट ली थी। कारण कि शुकदेव गर्भसे बाहर इसलिये नहीं आते थे कि माया मोहित कर लेगी। जो शुकदेवजी पिता वेदव्यासके पुकारनेपर भी नहीं लौटे, वे ही भागवतका यह श्लोक सुनकर स्वतः वेदव्यासजीके पास भागवत सुनने चले आये—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं-
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं-
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उसके अलावा और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ!' (१४.१०.१९८०, प्रात ५, वृन्दावन)

*** *** ***

अगर आपने चोरी नहीं की है, आप निर्दोष हैं तो आपको चोर कहनेपर आपको क्रोध नहीं आयेगा। अगर क्रोध आ गया तो आपने अवश्य चोरी की है। क्रोध तभी आता है, जब आपमें दोष हो और आप उसको छिपाना चाहते हो। निर्दोषको भय नहीं होता। रावणको भी सीता-हरणके समय भय लगता है। (१५.१०.१९८०, दोपहर ३.३० , वृन्दावन)

*** *** ***

सूर्य तो प्रकाशमय है, फिर उसको 'प्रकाश दो' कहनेकी क्या जरूरत है? ऐसा कहना तो उसका तिरस्कार करना है। ***'प्रभु-मूरति कृपामई है'***। भगवान् और सन्त—दोनों कृपाके पुंज हैं। उनको कृपा करनेके लिये कहना उनका तिरस्कार करना है! (२७.५.१९८१, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कोई पुरानी बात याद आये तो विचार करें कि वह बात तो अभी नहीं है, पर परमात्मा अभी हैं। **'परमात्मा तो हैं, पर वह घटना नहीं है'—यह थोड़ेमें बहुत दामी बात है!** (२७.५.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नामजपकी जितनी महिमा है, उतनी बुद्धिमें नहीं आ सकती। जितनी बुद्धिमें आती है, उतनी मनके संकल्पमें नहीं आ सकती। जितनी मनमें आती है, उतनी जीभ (वाणी)-में नहीं आ सकती। जितनी जीभमें आती है, उतनी लिखनेमें नहीं आ सकती। जितनी लिखनेमें आती है, उतनी पाठककी समझमें नहीं आ सकती। फिर उस महिमाको कैसे जानोगे? (३१.५.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

पैसोंको महत्त्व देना महान् अनर्थ है!

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम्॥

(महाभारत, वन० २। ४९)

'जो मनुष्य धर्मके लिये धनकी इच्छा करता हो, उसके लिये धनकी इच्छाका त्याग करना ही उत्तम है। कारण कि कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है।'

धार्मिक कृत्योंको पैसोंके अधीन मानना धर्मकी हत्या करना है! किसी सन्तके नामसे पैसे माँगनेवाला महान् दुष्ट है, सन्तके नामकी बिक्री करनेवाला है, सन्तपर कलंक लगानेवाला है! (४.६.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

तीर्थोंमें विशेष सावधान रहना चाहिये। तीर्थमें जाकर स्नान, देवदर्शन, सत्संग आदि करना चाहिये। किसीका हक नहीं लेना चाहिये। किसीसे कुछ नहीं लेना चाहिये। तीर्थोंमें किये गये पाप तथा पुण्य दोनों बढ़ते हैं। कारण कि जमीन बढ़िया, उपजाऊ हो तो जो बोयेंगे, वह बढ़िया उत्पन्न होगा। (७.६.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अपनेमें अपने सिवाय (मेरा करके) कुछ नहीं है—ऐसा मानते ही चिज्जड़ग्रन्थि (मैं-पन) टूट जाती है! (२२.६.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

देवताओंके भक्तोंको पुनरावर्ती लोकोंकी प्राप्ति होती है और भगवान्‌के भक्तोंको अपुनरावर्ती लोक अर्थात् भगवान् (परमधाम)-की प्राप्ति होती है। पुनरावर्ती लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोक है। उपनिषदोंमें आया है कि उस ब्रह्मलोकका सुख भगवत्प्राप्त महापुरुषको स्वतः प्राप्त है (तैत्तिरीय०, ब्रह्मानन्द० ८; बृहदारण्यक० ४। ३। ३३)। तात्पर्य है कि **भगवत्प्राप्त महापुरुष साक्षात् ब्रह्मलोक ही हैं, पर उनमें ब्रह्मलोकका नाशवान्‌पना नहीं है!** (२३.६.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जिस प्रारब्धसे रोग आया है, उसी प्रारब्धसे वह जाता भी है। परंतु हम रोग लानेके लिये उद्योग नहीं करते, प्रत्युत रोग दूर करनेके लिये उद्योग करते हैं!! रोग होना हो तो वैसा ही प्रबन्ध अपने-आप हो जाता है। अगर रोग जाना हो तो वैसा ही प्रबन्ध अपने-आप हो जाता है।

बीमारी मिटनी हो तो कुपथ्यसे भी मिट जाती है!! ऐसा मेरा अनुभव है। कोई आदमी कुपथ्य लाये तो मैं पूछता हूँ कि क्या तुम्हारा यह भिक्षा देनेका पक्का विचार है? वह कहे कि हाँ, पक्का विचार है तो मैं वह भिक्षा ले ही लेता था। (२४.६.१९८१, सायं ७.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग तीनोंमेंसे किसी भी मार्गमें लगे हुए साधककी निन्दा मत करो। उसमें अपने मार्ग (उपासना)-के प्रति अश्रद्धा पैदा मत करो। अश्रद्धा पैदा करनेके समान ब्रह्महत्या, गौहत्या भी नहीं है! अश्रद्धा पैदा करनेवालेको लाभ तो कुछ नहीं मिलता, पर दूसरा बेचारा मारा जाता है! जैसे, साँप काटता है तो उसको एक ग्रास भी नहीं मिलता, पर दूसरा मारा जाता है! (२६.६.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जिसका यह भाव है कि 'मेरे द्वारा गीता आदिका प्रचार हो जाय' तो यह गीताका नहीं, प्रत्युत अपना प्रचार है! अपनेसे बड़ा प्रचारक उसको अच्छा नहीं लगेगा। (१.७.१९८१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अन्याययुक्त पैसा बहुत अनर्थ करता है। परंतु जो ब्राह्मण अथवा साधु त्यागी, विरक्त है और केवल जीवन-निर्वाहमात्रके लिये धन लेता है, उसके पास यदि अन्यायसे कमाया हुआ धन आ जाय तो वह शुद्ध हो जाता है। तभी कहा है—***'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं'*** (मानस, बाल० ६९। ४)। 'समर्थ' का अर्थ है—वह जो अशुद्धको भी शुद्ध बनानेकी सामर्थ्य रखता हो। (२७.८.१९८१, प्रातः ८, मार्गमें, बीकानेर)

*** *** ***

यदि भगवान्‌के अर्पण कर दे और बदलेमें कुछ न चाहे तो दिया गया दान यदि अनधिकारीके पास चला जाय तो भी पाप नहीं लगता। पाप उसको लगता है, जो पुण्य चाहता है। कामना ही सत्यानाश करती है! (२७.८.१९८१, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

जो वस्तु मिटनेवाली या घटनेवाली होती है, वह वस्तु मूलमें नहीं होती—यह सार बात है। (२९.८.१९८१, रात्रि, बीकानेर)

*** *** ***

'मैं दहेज नहीं दूँगा'—इससे सुधार नहीं होगा। 'मैं दहेज नहीं लूँगा'—इससे सुधार होगा। (६.९.१९८१, प्रातः ८, मार्गमें, बीकानेर)

*** *** ***

मानवतामें हम सब एक हैं। मतभेद तो गुरु-शिष्यमें भी होता है। अपने-अपने सम्प्रदायकी विधिके पालनमें हम सब एक नहीं हो सकते, पर निषेधमें सभी एक हैं। (९.९.१९८१, दोपहर २.३०, बीकानेर)

*** *** ***

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—इसका तात्पर्य परमात्माकी अनन्ततामें है। वह परमात्मा पूर्ण है। यह संसार भी पूर्ण है; क्योंकि इसमें परमात्मा हैं। परमात्मा यहाँ-वहाँ अनन्त हैं। अनन्तमेंसे अनन्त निकालें तो अनन्त ही शेष रहता है। तात्पर्य है कि परमात्मा अनन्त हैं। (९.९.१९८१, रात्रि ८, बीकानेर)

*** *** ***

भगवान्‌की कोई सहायता, मदद कर दे तो वे ऋणी नहीं होते; क्योंकि सब कुछ है ही उनका। वे देनेसे नहीं, प्रत्युत त्यागसे ऋणी होते हैं कि इसने मेरे लिये संसारका त्याग कर दिया! (१३.१०.१९८१, प्रातः ८, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

केवल बलिवैश्वदेव करनेके बादका भोजन ही यज्ञशेष नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌को अर्पण करनेके बादका भोजन भी यज्ञशेष है; क्योंकि भगवान् यज्ञरूप हैं। (२०.१.१९८२, दोपहर, रामद्वारा, सींथल)

*** *** ***

शास्त्रोंको देखनेसे पता लगता है कि जब-जब आफत आयी, तब-तब भगवान्‌को पुकारा। आफत तभी आयी, जब भगवान्‌को भुला दिया।

रामायणकालमें ऋषि-मुनियोंकी हड्डियोंके ढेर लग गये थे। वे ऋषि-मुनि थे, भक्त नहीं। ऋषि-मुनि अपने लिये साधन करते हैं। परंतु भक्त दूसरोंके लिये ही सब काम करते हैं। भक्तोंकी रक्षा भगवान् नेत्रकी पलकके समान करते हैं! (२५.१.१९८२, प्रातः १०, सेवाराम गौशाला, नापासर)

*** *** ***

किसीकी सत्संगमें बहुत विशेष रुचि है, पर किसी कारणसे वहाँ नहीं जा सका तो सत्संगकी बातें उसके अन्तःकरणमें स्वतः प्रकट हो जायँगी! भगवान् भाव देखते हैं—'**भावग्राही जनार्दनः**'। (६.५.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

वृत्तियाँ तो आती-जाती हैं, पर आप रहते हो। किसीने कहा कि पगड़ी गुम गयी तो दूसरेने पूछा कि सिर तो सलामत है न? सिर सलामत है तो फिर चिन्ताकी कोई बात नहीं! ऐसे ही ये वृत्तियाँ पगड़ी हैं। वे आती-जाती हैं, पर हम तो रहते हैं न? वृत्तियाँ रहें या न रहें, भगवान्‌को याद करो—'**मद्रूप उभयं त्यजेत्**' (श्रीमद्भा० ११। १३। २६) 'दोनों (चित्त और विषयों)-को अपने वास्तविक स्वरूपसे अभिन्न मुझ परमात्मामें स्थित होकर त्याग दो।' (१०.५.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

एकान्तमें बैठ जाना सहज समाधि नहीं है। **सहज समाधिमें युद्ध भी किया जा सकता है!** समाधिमें व्युत्थान होता है, पर सहज समाधिमें व्युत्थान नहीं होता। सहज समाधिमें विलक्षण शक्ति आती है।

जब तमोगुण (नींद)-में भी शक्ति आती है तो फिर निर्गुण (सहज समाधि)-में कितनी शक्ति होगी?

सहज समाधिको करना नहीं पड़ता, स्वाभाविक होती है। कारण कि तत्त्व सहज है। (११.५.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सनातनधर्मकी प्रधान शंका है कि कहीं गंगास्नानको सर्वोपरि बताया है, कहीं सत्यनारायणव्रतको सर्वोपरि बताया है, आदि-आदि। ये वास्तवमें अलग-अलग निष्ठाएँ हैं। जहाँ एककी महिमा है, वहाँ निष्ठाकी महिमा है। उसमें राग-द्वेषसे रहित होकर तत्परतासे लग जाना निष्ठा है। तात्पर्य है कि एक गंगा आदिका ही भरोसा हो, अन्यसे कोई मतलब नहीं, कोई चाह नहीं। प्रह्लादजीकी निष्ठा थी कि सब जगह एक परमात्मा हैं। इस तरह पति, माता, पिता, गुरु, देवता आदिमें निष्ठा होती है। **जहाँ निष्ठा है, वहाँ परमात्मा पूरे-के-पूरे हैं। साधक जहाँ निष्ठा कर लेगा, वहीं परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।**

एकनिष्ठाकी बड़ी महिमा है। गंगामें निष्ठा रखनेवालेको सब कुछ गंगासे ही मिल जायगा। एकनिष्ठा न होनेके कारण ही आजकल लाभ नहीं हो रहा है। बिल्वमंगलकी निष्ठा एक वेश्यापर थी तो उनका भी कल्याण हो गया! राजा हरिश्चन्द्र सत्यनिष्ठ थे। सब तरफसे वृत्तियाँ हटकर एक जगह लग जायँ—यह एकनिष्ठा है। (१२.५.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

ब्राह्मणकी हत्या करना, मदिरा पीना, स्वर्णकी चोरी करना और गुरुपत्नीके साथ व्यभिचार करना—ये चार महापाप हैं। इन चारोंका (किसी एकका भी) तीन वर्षतक संग करनेवालेको भी वही दण्ड मिलता है, जो उन चारोंको मिलता है।

श्रोता—स्त्रीके लिये पतिकी सेवा और पुत्रके लिये पिताकी सेवा करना धर्म है। परंतु पति अथवा पिता मदिरा पीनेवाला हो तो उसके संगसे कैसे बचें?

स्वामीजी—स्त्री पतिके नाते पतिकी सेवा करती है, मदिरा पीनेवालेकी सेवा नहीं करती। वह अपने धर्म, कर्तव्यका पालन करती है। वह पतिकी सेवा करे। पिता मदिरापान करनेवाला हो तो पुत्र उसकी सेवा करे। सेवाका एक विलक्षण असर पड़ता है। सिंह आदि क्रूर पशु भी सेवा करनेसे वशमें हो जाते हैं। परंतु मदिरा पीनेवाले मित्रका तो त्याग कर देना ही बढ़िया है। (१७.५.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो, तबतक सब बालक (बेसमझ) ही हैं। इस बालकपन (बेसमझी)-को दूर करनेके लिये यह मानवशरीर मिला है। मानवशरीर चौरासी लाख योनियोंमें ब्रह्मचर्याश्रम है। (४.६.१९८२, रात्रि ८, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसार तंग नहीं करता, प्रत्युत संसारसे जो सुख भोगना चाहते हैं, वह सुखेच्छा तंग करती है।

आप असत्‌का आदर छोड़ दोगे तो असत् आपके विरुद्ध नहीं होगा, उल्टे आपकी सहायता करेगा, आपके पीछे भागेगा!

जबतक नाशवान्‌पर दृष्टि है, तबतक वर्णाश्रम आदिसे कितना ही ऊँचा हो, वह नीचा ही है। यदि

आपका ध्येय अविनाशी है तो आप वर्णाश्रम आदिकी सब मर्यादाओंसे ऊँचे हो जाओगे। (७.६.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जिस वस्तुको मेरी मानते हैं, उसीका असर पड़ता है। वृत्तियाँ प्रकृतिकी हैं, आपकी नहीं। मैं परमात्माका हूँ, परमात्मा मेरे हैं। मैं वृत्तियोंका नहीं हूँ, वृत्तियाँ मेरी नहीं हैं। इस तरह वृत्तियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दें। फिर वृत्तियाँ अपने-आप ठीक होंगी।

वृत्तियोंसे सम्बन्ध-विच्छेदका उपाय है—अच्छी-बुरी चाहे जैसी वृत्ति हो, उसके आरम्भ और अन्तको देखो। आरम्भ और अन्तको देखनेसे आप स्वतः उससे अलग हो जाओगे। बदलनेवाली अवस्थाको देखनेसे अवस्थातीत तत्त्वमें अपने-आप स्थिति होगी। यह गुणातीत होनेका बहुत सुगम उपाय है! (८.६.१९८२, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मैं पापी हूँ, मैं साधु हूँ, मैं स्त्री-पुरुष हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि सबको हटाकर एक 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह ले आये। यह बीज है, इसे हिलाये नहीं। इसपर इतना पक्का रहे कि स्वयं भगवान् भी कहें तो इसे हटाये नहीं। फिर जो साधन आप चाहते हो, वह अपने-आप होने लगेगा। वैराग्य, काम-क्रोधादिका नाश आदि स्वतः होंगे। इसके साथ ही यह बात मान लें कि 'मैं संसारका नहीं, संसार मेरा नहीं'। तीनों शरीर, तीनों अवस्थाएँ, ध्यान, समाधि आदि सब मेरे लिये नहीं हैं। यह परीक्षा, सन्देह या विपरीत धारणा मत करो कि मैं भगवान्‌का हुआ कि नहीं? (२०.६.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

साधन करते हुए मन लगता है, अश्रुपात होता है, रोमांच होता है तो उससे भी सुख लेनेपर वह अवस्था रहेगी नहीं, या तो नींद आ जायगी या संसारका चिन्तन होने लगेगा। कारण कि सुख लेनेसे वह भगवत्सम्बन्धी बात खर्च हो जायगी, रहेगी नहीं। सात्त्विक वृत्तिका सुख भोगनेसे सात्त्विक वृत्ति खर्च हो जायगी। अब या तो तामसी वृत्ति (नींद) आयेगी या राजसी वृत्ति (सांसारिक चिन्तन) आयेगी। तो फिर क्या करें? उस सात्त्विक सुखको मिटाना नहीं है, प्रत्युत उसमें राजी नहीं होना है, उसमें सन्तोष नहीं करना है। सन्तोष नहीं करनेसे साधनका सुखभोग नहीं होगा। सुखभोग न होनेसे वह जमा हो जायगा। भोग करनेसे कोल्हूके बैलकी तरह सांसारिक आदमी संसारमें और साधक साधनमें घूमते रहेंगे। (२१.६.१९८२, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नामजपमें मन लगानेके उपाय—पहला, मनसे नामजप करो और उसकी गणना भी मनसे ही करो, मालासे नहीं। दूसरा, मुखसे दूसरा नाम लो और मनसे दूसरा नाम लो। तीसरा, मनसे नामका रागपूर्वक कीर्तन करो। (२६.७.१९८२, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

धन है, पर हृदयमें जलन है तो क्या लाभ? धन नहीं है, पर हृदयमें शान्ति है तो क्या हानि? (२९.७.१९८२, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

वक्तालोगोंका समुदाय, राजकीय समुदाय और व्यापारी समुदाय—इन तीनोंने ही मिलकर वर्तमानमें

समाजका सत्यानाश किया है! दुःख-शोककी उत्पत्ति की है! (१८.८.१९८२, दोपहर ३, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर)

*** *** ***

मैं विवाहित हूँ—यह बात भीतर जँची हुई है, फिर भी असत् होनेके कारण यह टिकेगी नहीं। अगले जन्ममें फिर कुँआरे हो जाओगे। परंतु 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह बात जँच गयी तो फिर कभी मिटेगी नहीं; क्योंकि यह सत् है। (२३.८.१९८२, प्रातः ५, योग साधना आश्रम, जयपुर)

*** *** ***

एक बार स्वर्गाश्रमके सत्संगके अन्तमें सेठजीने कहा कि मेरेपर यह कृपा करें कि हमारा पुनर्जन्म होगा—यह भाव हृदयसे उठा दें। आप कल्याणके लिये मेरे पास आये हैं, पर मैं आपका कल्याण नहीं कर सकता, इसलिये मैं ऋणी हूँ। जैसे, कोई आदमी ऋण न चुका सके तो सरकारसे कुछ सहायता मिल जाती है, थोड़ा ऋण सरकार चुका देती है। परंतु भगवान् तो पूरा-का-पूरा ऋण चुका देते हैं! आप हृदयसे मान लें कि अब हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा—यही भगवान्‌से ऋण चुकाना है! (२६.८.१९८२, प्रातः ५, जयपुर)

*** *** ***

जैसे बालकका माँके सिवाय और कोई सहारा नहीं होता तो एक बार 'माँ' पुकारनेसे माँ सब काम छोड़कर आ जाती है, ऐसे एक बार हृदयसे भगवान्‌को पुकारे तो बेड़ा पार हो जाय!! **नामजप कोई रुपये-पैसे-जैसी चीज नहीं है कि इकट्ठा हो जाय तो काम बने!** (२७.११.१९८२, रात्रि ७.३०, चाखू)

*** *** ***

किसी चीजकी उत्कट चाहना हो जाय तो उसी रूपसे परमात्मा मिल जायँगे। जब उस उत्कट इच्छाको भूल जाओगे, तब वह तुरन्त पूरी हो जायगी। सच्ची लगन किसीकी भी हो, उसको भगवान् पूरी करते हैं—

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

(मानस, बाल० २५९। ३)

मैं पहले पेटी-तबला बजाया करता था, पूरा तो नहीं जानता था। एक बार जागरण हुआ। वहाँ मैं भी था और मेरे मनमें जोरसे आयी कि मैं भी बोलूँ-गाऊँ, पर मुझे कौन पूछे? रात बीत गयी, मौका नहीं मिला। कई वर्ष बीत गये और इस बातको मैं भूल गया। फिर मुझे १२-१४ घण्टे रोज बोलना पड़ गया। तब विचार आया कि इतना बोलनेका मौका क्यों मिला, तो याद आया कि जागरणके समय मेरे मनमें जोरदार इच्छा हुई थी, यह उसीका परिणाम है! (११.१२.१९८२, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

आज सूर्यग्रहण है। ग्रहण विशेष सावधानीका समय है। प्रलयका समय अमावस्या या पूर्णिमा होगी। चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी—तीनों बड़े-बड़े गोला हैं। जो दीखता है, यह चन्द्रमण्डल है, चन्द्रलोक नहीं। चन्द्रलोक सूर्यसे भी ऊँचा है। शुक्लपक्षमें उस चन्द्रलोकसे इस चन्द्रमण्डलमें अमृत आता है। पेड़-पौधे, गर्भ आदि शुक्लपक्षमें बढ़ते हैं। चन्द्र ठण्डा है, सूर्य गरम है और पृथ्वी न गरम है, न ठण्डी।

पृथ्वीके भीतर (गेंदकी तरह) पोलाहट है। वहीं नरक भी हैं। वह पोलाहट वस्तुको खींचती है; जैसे—पेट खाली होनेपर अन्न भीतर खिंचता है। पेट भर जानेपर अन्न मुँहमें रहता है, नीचे नहीं उतरता।

पृथ्वीके अग्निभागको सूर्य खींचता है और सूर्यके स्थूलभागको पृथ्वी खींचती है। पृथ्वी बहुत गरम है, पर चन्द्रमासे ठण्डक मिलती रहती है।

जैसे शरीरके देवताका नाम जीवात्मा है, ऐसे ही छायाके देवताका नाम है—राहु और केतु। राहु और केतु देवताओंके विरुद्ध हैं, इसलिये उनसे उल्टे चलते हैं।

बीचमें पृथ्वीकी आड़ आनेसे चन्द्रग्रहण होता है, और चन्द्रमाकी आड़ आनेसे सूर्यग्रहण होता है। खग्रास ग्रहण भयंकर होता है। प्रलय तभी होगा, जब खग्रास होगा। अतः ऋषि-मुनियोंने ग्रहणके समय नामजप, कीर्तन आदि करनेकी बात कही है, जिससे कल्याण हो जाय।

ग्रहणमें मन्त्र सिद्ध होता है, मन्त्रोंमें शक्ति आती है। ग्रहोंका, वारोंका भी शुभाशुभ असर पड़ता है।

ग्रहणके समय जठराग्नि ठीक नहीं रहती; क्योंकि अग्निका सम्बन्ध सूर्यसे है। इसलिये सूतककालमें अन्न-ग्रहणका निषेध है। अन्न न लेनेसे स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और उपवासका पुण्य भी होता है। (१५.१२.१९८२, दोपहर १२, स्टेशनके पास, बीकानेर)

*** *** ***

भगवान्‌की लीलाको देखनेसे मोह हो जाता है, पर सुननेसे मोह दूर हो जाता है। हमारा सौभाग्य है कि हमें भगवान्‌की लीला देखनेको नहीं मिली, सुननेको मिली है!

भगवान् योगमायाके परदेमें रहते हैं, अपने-आपको छिपाकर रखते हैं। ऐसे ही सन्त-महात्मा भी अपनेको छिपाकर रखते हैं। मैंने खुद ऐसा अनुभव किया है। जिस सन्त (सेठजी)-के लेख पढ़नेपर बहुत लाभ होता था, लेख बड़े विचित्र लगते थे, उनसे मिलनेपर वे वैसे नहीं लगे! उनके लेखोंसे जो लाभ होता था, वह लाभ वर्षोंतक उनके पास रहनेसे नहीं हुआ! वे विवेचन करते थे तो मनमें आता था कि इससे अच्छा विवेचन तो मैं ही कर दूँ! कारण क्या है? भगवान्‌के भक्त भी अपनेको परदेमें रखते हैं, पर लेखों, पुस्तकोंमें वे अनावरण, प्रकट रहते हैं। (८.२.१९८४, रात्रि ७, क्रॉस मैदान, बम्बई)

*** *** ***

श्रोता—सब जगह परमात्माको माननेसे काम कैसे होगा?

स्वामीजी—मिट्टीको मिट्टी जानते हुए क्या मिट्टीसे काम नहीं ले सकते? मिट्टीके बरतन नहीं बना सकते? (३.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जो कहता है कि मुझे बहुत-से सन्त मिले, उसको वास्तवमें एक भी सन्त नहीं मिला! यदि मिला होता तो वहीं अटक जाता, भटकता नहीं। एक महात्मा हजारोंका उद्धार कर सकता है, फिर बहुत महात्मा क्यों चाहिये? क्या मुर्दा उठाना है? (२.८.१९८४, रात्रि ८.३०, जयपुर)

*** *** ***

एक पुस्तकमें पढ़ा था कि दया भी एक पाश अर्थात् फाँसी है। जैसे, भरतमुनिने दया करके हरिणको पाला, पर परिणाममें वे भी मरकर हरिण बन गये। यह बिल्कुल गलत धारणा है। वास्तवमें दया, सेवा फाँसी है ही नहीं। फाँसी है—अपनापन। भरतमुनिने अपनापन कर लिया, इसीसे उनको जन्म लेना पड़ा। यदि दया करते, अपनापन न करते तो फँसते नहीं। (१.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

ये चार बातें जिसमें होंगी, वह चाहे किसी भी क्षेत्रमें क्यों न हो, सबपर विजय प्राप्त कर लेगा। लोग

उसकी गरज करेंगे—

१) अपना समय बरबाद मत करो, अच्छे काममें लगे रहो।

२) जो भी काम करो, सुचारुरूपसे करो, जिससे कोई कमी न रहे। अपनी कार्य-कुशलता, करनेकी विद्या, चतुराई बढ़ाते रहो।

३) अपने निर्वाहके लिये ज्यादा आवश्यकता पैदा मत करो।

४) पराया हक मत आने दो। (१०.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

सुननेकी कला है—वक्ताके मुख और नेत्रोंकी तरफ देखे और ख्याल करे कि वक्ताका आशय क्या है? यह जाननेकी कोशिश करे कि वह किस आशयसे बोल रहा है? फिर ऐसा होने लगेगा कि वक्ताके बोलनेसे पहले ही उसका आशय जान जाओगे कि अब वह क्या कहना चाहता है। (१०.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जबतक बुद्धिसे समझे, तबतक वास्तवमें समझे नहीं, सीखे हैं। समझ तो स्वयंसे होती है। **भगवान्‌को खुदमें न बैठाकर मन-बुद्धिमें बैठा लिया और संसारको, भोगोंको खुदमें बैठा लिया, तभी भगवान्‌की भूली होती है।** वास्तवमें साधन खुदमें होता है। कर्मयोग त्यागरूपसे खुदमें रहता है। योगमात्र खुदका है। जबतक खुदमें भगवान्‌को नहीं बैठाया, तबतक क्या समझे? केवल सीख लिया। (११.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

कुछ न करनेसे जैसे नींद आ जाती है, ऐसे ही जाग्रत्‌में 'चुप' होनेसे स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। यह जाग्रत्-सुषुप्ति है। (१२.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

'है' पर दृष्टि रहना ही ध्यान है। यह ध्यान स्वतः सब समयमें अखण्ड रहता है। (१६.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

पूर्वजन्मोंकी अपेक्षा इस जन्मके और इस जन्ममें भी वर्तमानके संस्कार, उद्योग प्रबल हैं। (१९.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

संसारकी दृष्टिसे आयु बहुत थोड़ी है, पर कल्याणके लिये आयु बहुत लम्बी है, कई बार कल्याण कर ले!! (२१.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जिसको 'मेरा' कहा जाय, उसको (शरीरको) 'मैं' नहीं कहना चाहिये। (२२.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

चेतनका चिन्तन करते हैं तो चेतनको जड़का विषय बनाते हैं। (२३.१.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जिनके साथ हमारी एकता नहीं है, उनको अपना न मानकर उनका उपयोग करो। उपयोग भी तभी करो, जब उनकी तरफ दृष्टि जाय, नहीं तो केवल परमात्माकी तरफ देखते रहो। (६.२.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

महाभारत-युद्धके समय भीष्म, द्रोण आदिने कहा—'**अर्थस्य पुरुषो दासो०**'। इसका तात्पर्य है कि वे 'धन' से बँधे हुए नहीं थे, प्रत्युत 'धर्म' से बँधे हुए थे। बड़े पुरुष अपने मुखसे अपनी बड़ाई नहीं करते। वे कैसे कहें कि हम धर्मसे बँधे हुए हैं? अतः यह उनकी महत्ता, शिष्टता है कि वे कहते हैं कि हम धनसे बँधे हैं। वास्तवमें वे दुर्योधनके वृत्तिभोगी थे। उन्होंने उम्रभर दुर्योधनका अन्न खाया था। अब युद्धके मौकेपर पीछे हट जायँ अथवा विपक्षमें चले जायँ—यह कृतघ्नता होती, अन्यथा भीष्मके कौन-से बेटा-पोते थे, जिनके लिये धन इकट्ठा करते?

विदुरजी बड़े नीतिज्ञ थे। अतः वे तीर्थयात्राका बहाना बनाकर चले गये, जिससे न तो अधर्मका पक्ष लेना पड़े, और न विपक्षमें जाकर कतघ्न बनना पड़े। परंतु भीष्मजी ऐसा नहीं कर सके; क्योंकि उनपर सेनापतिकी जिम्मेवारी थी। कर्ण भी दुर्योधनके वृत्तिभोगी होनेसे दुर्योधनके पक्षमें ही रहे। भीष्मजी आदिके द्वारा अपमानित होनेपर भी वे पाण्डवोंके पक्षमें नहीं गये, जबकि वे जानते थे कि मैं पाण्डवोंका भाई हूँ। महाभारतके पात्र बड़े विलक्षण हैं!! (१९.२.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

***श्रोता*—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)—इसका गूढ़ भाव क्या है?

***स्वामीजी*—**गूढ़ भाव है—भक्तका जैसा भाव होता है, भगवान्‌का भी वैसा ही भाव हो जाता है। भक्त भगवान्‌के बिना नहीं रह सकता तो भगवान् भी उसके बिना नहीं रह सकते। वह भगवान्‌के लिये रोता है तो भगवान् भी उसके लिये रोते हैं। सीताजी व्याकुल होती हैं तो रामजी भी सीताके लिये व्याकुल हो जाते हैं। गूढ़ भाव है कि मनुष्य अपनी शक्ति लगा दे तो भगवान् भी अपनी शक्ति लगा देते हैं!

'**यथा**' और '**तथा**' अव्यय हैं। इनका व्यय नहीं होता। इनमें अनेक भाव भरे हुए हैं। यथा-तथाकी बात '**प्रपद्यन्ते**' के विषयमें है। भगवान्‌की दयामें यथा-तथा नहीं हैं। तू मेरेसे विमुख हो जायगा तो मैं भी विमुख हो जाऊँगा—यह भाव नहीं है—***'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥'*** (३.३.१९८५, प्रातः ५, रामधाम, खेड़ापा)

*** *** ***

यदि उद्देश्य परमात्माका है तो पासमें करोड़ रुपये हों तो वे बाधा नहीं देंगे। परंतु परमात्माका उद्देश्य न हो तो पासमें कुछ भी न होनेसे भी बाधा लग जायगी! (१८.३.१९८५, प्रातः ५, श्रीरामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

शौच-स्नान आदिमें समय गया—यह समयका घरखर्चा है।

आलस्यमें समय गया—यह समयकी ठगाई है।

सोनेमें समय गया—यह समयकी चोरी है।

विवाह, जन्म-मरण आदिमें समय गया—यह समयका टैक्स है।

झूठ, कपट, बेईमानीमें समय गया—यह समयका डाका है। (२८.३.१९८५, प्रातः ५, श्रीरामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

सुख-दुःखसे रहित न स्वर्ग है, न नरक है, न कोई योनि है! (९.४.१९८५, प्रातः ५, श्रीरामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

सत्संगसे जो बात समझमें आती है, वह पुस्तकोंसे नहीं आती। भले ही आप श्लोकोंकी टीका कर दो, पर वास्तविक बात समझमें नहीं आती।

स्वरूपतक कोई भी साधन नहीं पहुँचता। (११.४.१९८५, प्रातः ५, श्रीरामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

ज्यादा सुख लोगे तो वह भगवान्‌को सुहाता नहीं। (१५.४.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

वस्तु तो परमात्माकी है ही, उसको अर्पण क्या करें? अर्पण तो अपनेपनका करना है। (२४.४.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आचरण शुद्ध करना अच्छा है; परंतु परमात्माकी प्राप्ति किसीके आश्रित नहीं है। परमात्मा सब देश, काल, वस्तु आदिमें परिपूर्ण हैं। अपवित्र वस्तु, व्यक्ति, आचरणमें भी परमात्मा हैं। हम सदाचारी हैं या दुराचारी हैं, पर 'मैं हूँ'—यह तो रहता ही है। तात्पर्य है कि अपनी सत्ता हरदम रहती है, फिर परमात्माका तो कहना ही क्या!! (३०.४.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जो परमात्माके सम्मुख है, वह अन्तर्मुख है। जो संसारके सम्मुख है, वह बहिर्मुख है। (३०.५.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अपने लिये चाहना और अपने लिये करना—यह खास बुराई है। इस बुराईका त्याग करे। (३.६.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अमूल्य वस्तु बिना मूल्यके मिलती है। भगवान् और उनके भक्त, सन्त-महात्मा—ये किसी मूल्यसे नहीं मिलते। पैसोंसे सन्त, भक्त नहीं मिलते। **पैसोंसे वही मिलेगा, जो पैसोंका गुलाम हो। पैसोंसे पैसोंका मालिक नहीं मिलता।** (१३.६.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आजसे राम-राम शुरू कर दो। मन लगे या न लगे, सुख आये या दुःख आये, निन्दा हो या अपमान हो, नामजप करते रहो। लाभ अवश्य होगा। जो लाभ हो, वह मुझसे छः मास बाद, एक वर्ष बाद, चार वर्ष बाद आकर कह दो। **जिन्होंने मन न लगनेपर भी जप किया है, उनको भी लाभ हुआ है—ऐसा मैंने देखा है।** (१७.६.१९८५, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

हित करनेवाले, हित न चाहनेवाले और अहित करनेवाले—तीनोंसे ही हमारा हित होता है, ऐसा मैंने देखा है। (१०.७.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

आजतक अनेक व्यक्ति भले हुए, पर ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसको सबने भला कहा हो। (११.७.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

दुःख जितना भयंकर (दुःखदायी) होता है, उतना सुख सुखदायी नहीं होता। (२७.७.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

भक्तिका बहुत प्रभाव है! मीराने जहर पी लिया तो मरी नहीं। अगर ज्ञानी जहर पी ले तो मर जायगा!! (२८.७.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जैसे दर्पण 'घन' है, उसमें मुख दीखता है। ऐसे ही परमात्मा 'घन' (सच्चिदानन्दघन) हैं, उनमें यह संसार दीखता है। (२९.७.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

कुत्तेको गुस्सा आयेगा तो वह पाँवको काटेगा और राजी होगा तो मुखको चाटेगा! अतः वह दूर ही ठीक है। ऐसे ही संसार न वैरका पात्र है, न प्रेमका। उसकी तो सेवा कर दो। (१७.८.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

एक बारीक बात है कि 'मैं' 'हूँ' नहीं है, प्रत्युत 'हूँ' 'मैं' है! तात्पर्य है कि पहले होनापन है, पीछे 'मैं' है। आपकी सत्ता पहले है। शरीरका अस्तित्व तो पैदा होनेके बाद है, पर आपका (स्वरूपका) तथा परमात्माका अस्तित्व पहलेसे है। इसलिये 'मैं' नहीं है और 'हूँ' है। (१८.८.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

नारदजीके मनमें थोड़ा-सा अभिमान आया तो भगवान्‌ने उनकी फजीती करके उनका अभिमान दूर कर दिया! रावणमें बहुत अभिमान था, पर भगवान्‌ने उसका अभिमान दूर नहीं किया; क्योंकि रावण भक्त नहीं था। नारदजी भक्त थे। जैसे बालक क्रोधमें माँके स्तनको काट लेता है, ऐसे नारदजीने क्रोधमें भगवान्‌को शाप दे दिया। भगवान्‌ने शाप सह लिया, पर भक्तमें अभिमान नहीं रहने दिया।

जिसका भला चाहते हो, उसकी प्रशंसा न करें। एक श्लोक आता है—

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः।
कर्मान्ते दासभृत्याश्च पुत्रा नैव तथा स्त्रियः॥

'गुरुजनोंकी प्रशंसा प्रत्यक्षमें करे। मित्र तथा सम्बन्धियोंकी प्रशंसा परोक्षमें करे। नौकरकी प्रशंसा काम करनेके बाद करे। पुत्र तथा स्त्रीकी प्रशंसा कभी न करे।'

आजकल पुत्र पुत्र नहीं रहा, इसलिये पुत्रकी प्रशंसा कर सकते हैं!! वास्तवमें पुत्र तो वह है, जो पिताके

द्वारा सबके सामने जूती मारनेपर भी राजी रहे!! (१९.८.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

अपनी सत्ता (मैं हूँ) अपना घर है। आप अपने घरमें ही रहो।

कुछ भी चिन्तन न करनेसे, चुप होनेसे बड़ी भारी शक्ति मिलती है। उस शक्तिसे प्रश्नोंका समाधान अपने-आप होता है। (२३.८.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जो बात ठीक और बेठीक दोनों हो, वह वास्तवमें बेठीक ही है। (२६.८.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जो वस्तु हमारी है, वह हमारे पास झख मारकर आयेगी! संवत् १९७४ (६८ वर्ष पहले)-की बात है। उज्जैनमें कुम्भ था। वहाँ भोजनकी बड़ी अच्छी व्यवस्था थी। घर-घर भोजन तैयार मिलता था। परंतु मैं गाड़ीसे वहाँ देरीसे पहुँचा। भोजनका समय समाप्त हो चुका था। भूख लगी थी। मैंने देखा कि कुछ गृहस्थ एक साधुको साथ लेकर जा रहे हैं। मैं भी उनके साथ चल दिया। वे घर ले गये। वहाँ उस साधुको बैठा दिया। मैं भी साथमें बैठ गया। वे भोजनकी थाली ले आये और एक थाली उस साधुके आगे रखी, एक मेरे आगे रखी। मैंने भोजन कर लिया और रवाना हो गया! न तो उन्होंने मेरेसे पूछा, न साधुने पूछा कि तुम कौन हो? कहाँसे आये हो? न मैंने उनसे कुछ पूछा। भोजन मिल गया! इस तरह वस्तु अपने-आप मिलती है। किस विधिसे मिलती है, किस तरह मिलती है—इसका हमें पता नहीं!! (२९.८.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

श्रोता—दोषोंको मिटाते-मिटाते शरीर छूट जाय तो क्या उद्धार होगा?

स्वामीजी—भगवान्‌की कृपासे उद्धार हो जायगा। कारण कि आपकी नीयत दोषोंको मिटानेकी है, प्रवाह दोषोंको मिटानेका है।

'मैं आत्मा हूँ'—यह बात मेरेको प्रिय नहीं लगती। मेरेको प्रिय लगता है—'मैं भगवान्‌का हूँ'; क्योंकि स्वयं भगवान्‌का है। 'मैं आत्मा हूँ'—यह बात शरीर-मन-वाणीको लेकर कहते हैं, शरीरसे अलग होकर नहीं कह सकते। 'मैं आत्मा हूँ'—यह तोतेकी तरह पढ़-सुनकर सीख लेनेसे कुछ लाभ नहीं है। तोता 'राधेकृष्ण-राधेकृष्ण' करता है, पर बिल्ली आनेपर 'टें-टें' करता है! (५.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

केवल एक भगवान्‌के हो जाओ और किसीकी भी चिन्ता मत करो। फिर सत्संग, अच्छे-अच्छे महात्मा अपने-आप मिलेंगे। **चिन्ता करनेसे ही कृपामें आड़ लगती है।** साधक जीवन-निर्वाहकी, मोक्षकी भी चिन्ता न करे। छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीजकी भी चिन्ता न करे। फिर सब अपने-आप आयेगा। (१०.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जो चिन्ता होती है, वह अभिमानसे होती है। **साधक जितनी चिन्ता करता है, उतना ही वह भगवान्‌से दूर है।** मैं कर लूँगा—ऐसा अहंकार होनेपर ही चिन्ता होती है। चिन्ता, दुःख होनेमें अभिमान कारण है।

अहंकार होनेसे ही कार्य करनेमें परिश्रम होता है। संसारमें दूसरे लोग कार्य करते हैं तो क्या आपको परिश्रम पड़ता है? जैसे दूसरे शरीर हैं, ऐसे ही यह शरीर है। (११.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

सीखी हुई बात दूसरोंके (व्याख्यानके) काम आती है, अपने काम नहीं आती। अपने काम तो केवल सुनी हुई बात आती है। (१२.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

सबमें परमात्मा हैं—यह देखना अन्तर्मुखी दृष्टि है। अपना सुख चाहनेसे बहिर्मुखी वृत्ति होती है।

साधुओंके हृदयमें निरन्तर दूसरोंके हितका भाव रहता है, इसलिये उनके दर्शनसे पुण्य होता है—**'साधूनां दर्शनं पुण्यम्'**। (१३.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

सबमें लेनेकी इच्छा रहती है तो इससे सिद्ध होता है कि लेनेयोग्य कोई विलक्षण वस्तु है। (१४.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

हजारों वर्ष तपस्या करनेका भी उतना महत्त्व नहीं है, जितना एक-दो सेकेण्ड भी 'चुप' हो जानेका है!! (१६.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जैसे सगुण-साकारमें प्रेम होता है, वैसे निर्गुण-निराकारमें भी प्रेम होता है। निर्गुणमें प्रेमकी लीला तो होती है, पर रासलीला नहीं होती! निर्गुणवालेकी आँखोंमें भी आँसू आते हैं, उमंग आती है। (१७.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

मिली हुई वस्तुको अपना माननेवाला न संसारके कामका है, न अपने कामका है , न भगवान्‌के कामका है। वह न योगी है, न ज्ञानी है, न भक्त है।

जो चेला बने बिना, सम्प्रदायमें दीक्षा लिये बिना साधन नहीं कर सकता, वह वास्तवमें भगवत्प्राप्ति चाहता ही नहीं! सच्चा साधक एक जगह टिक नहीं सकता। (२३.९.१९८५, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत अभावके अनुभवसे दुःख होता है। अभावका अनुभव अज्ञानसे होता है, वस्तुओंके अभावसे नहीं। विरक्त और दरिद्र—दोनोंमें फर्क नहीं है, पर विरक्त दुःखी नहीं होता।

कोई दुःखी होता है तो उसको उपदेश देते हैं, पैसे, पदार्थ नहीं देते। अतः दुःख ज्ञानसे मिटता है, पदार्थसे नहीं। जहाँ खर्चा होता है, वहाँ पैसे देते हैं। खर्चेमें पैसेकी और अज्ञानमें ज्ञानकी आवश्यकता है। (१९.१०.१९८५, प्रातः ५, राठी भवन, बम्बई)

*** *** ***

अर्जुनका विश्वरूपदर्शन उद्देश्य नहीं था, श्रेयका उद्देश्य था। इसलिये दर्शनके बाद भी उन्होंने शंकाएँ कीं, सात अध्याय चले। जिसका उद्देश्य दर्शनका ही हो, उसका फिर सन्देह नहीं रहता। अगर रहता है तो वह भगवत्कृपासे दूर हो जाता है। उसका करना कुछ बाकी नहीं रहता। (२२.१०.१९८५, प्रातः ५, राठी भवन, बम्बई)

*** *** ***

बदलनेवालेका विभाग अलग है, न बदलनेवालेका विभाग अलग है। काम-क्रोधको 'है' मत मानो। ये आते-जाते हैं—ऐसा मानो। ये तो आने-जानेवाले हैं, इनसे हमारे कल्याणमें बाधा कैसे लगेगी? ये आने-जानेवाले हैं—इसपर दृढ़ रहो। ये आ जायँ तो इनसे भय मत करो। काम, क्रोध आदि आ जायँ तो कहे कि तुम कैसे आ गये, हम तो भगवान्‌के अंश, पुत्र हैं!! (२३.१०.१९८५, प्रातः ५, राठी भवन, बम्बई)

*** *** ***

जहाँ अपनी मनचाही नहीं होती, वहाँ भगवान्‌की मनचाही होती है। (२८.१०.१९८५, प्रातः ५, राठी भवन, बम्बई)

*** *** ***

अपनेमें कुछ अधिकता मानना शरणागतिमें बाधा है। अपनेमें कुछ भी प्रतीति न हो। मैं माँके ही परायण हूँ—ऐसी बालककी वृत्ति ही नहीं होती। ऐसे ही साधकमें 'मैं भगवान्‌का भजन करता हूँ'—यह वृत्ति भी न आये। (१०.१२.१९८५, प्रातः ५, अयोध्या)

*** *** ***

रुपयोंके लोभके समान पतन करनेवाली कोई चीज नहीं है। वास्तवमें कोई भी वस्तु खराब नहीं होती। खराब वस्तुका भी त्याग बढ़िया होगा। अतः वस्तुका लोभ खराब है, वस्तु नहीं। (११.१२.१९८५, प्रातः ५, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

अपना दोष न दीखना ही महान् दोष है, जो दोषोंको स्थायी रखनेवाला है। (१८.१२.१९८५, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

बोध, त्याग और मान्यता—इनके टुकड़े नहीं होते। ये तो एक ही बार होते हैं। (४.१.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

अगर हमारेमें किंचित् भी लोभ नहीं है तो धनी और निर्धनका भेद हमें नहीं दीखेगा। (७.१.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

भगवत्कृपाका आश्रय अच्छा भी है और साधनमें बाधक भी है! भगवत्कृपाका बहाना बनाकर साधन न करना घातक है! भगवान्‌की कृपा सभीपर है तो फिर सबका कल्याण क्यों नहीं होता? (२९.१.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' (गीता १२। ४)—अपने लिये करनेसे जड़की मुख्यता रहती है और दूसरेके लिये करनेसे चेतन (चिन्मयता)-की मुख्यता रहती है। अपने लिये करते हैं तो शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणके लिये करते हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध जड़ताके साथ होता है। परंतु दूसरेके लिये करनेसे प्रवाह एक व्यक्तिकी तरफ न जाकर सबमें रहनेवाले चेतनकी तरफ जाता है। जड़ताके सम्बन्धसे ही बन्धन है। (१५.२.१९८६, प्रातः ५, विराटनगर, नेपाल)

*** *** ***

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—बस, इतनी ही बात है। कुछ करना नहीं, कुछ जानना नहीं, कुछ पाना नहीं!! (१९.२.१९८६, प्रातः ५, विराटनगर, नेपाल)

*** *** ***

'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)-से वर्षोंतक अहंकार नहीं टूटेगा, **'अहं नास्ति ब्रह्म अस्ति'** (मैं नहीं हूँ, ब्रह्म है)-से तत्काल अहंकार मिटेगा। (२०.२.१९८६, प्रातः ५, विराटनगर, नेपाल)

*** *** ***

जीवन्मुक्त, भगवत्प्राप्त होनेके बाद भी अपनेको पूर्ण नहीं मानना चाहिये। जबतक एक भी जीव बन्धनमें है, तबतक पूर्णता कैसे? एक आदमीको भोजन मिल गया तो क्या बाकी सब भूखे रहें? अगर दूसरे लोग बन्धनमें पड़े हैं तो यह उस महात्मापर ऋण है। जबतक एक भी जीव बन्धनमें है, तबतक वह महात्मा चैनसे कैसे बैठ सकता है? (२४.२.१९८६, प्रातः ९.५०, राजविराज, नेपाल)

*** *** ***

मन चंचल रहे या न रहे, आप तो ज्यों-के-त्यों रहते हो। आप अपने रहनेपर दृष्टि रखो, मनपर नहीं। मन एक 'करण' है। करण मोक्ष-बन्धका कारण कैसे हो सकता है?

मन कभी निर्विषय नहीं होता; क्योंकि वह प्रकतिका कार्य है। उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है। (२५.४.१९८६, प्रातः ५, दिल्ली)

*** *** ***

संसार 'है' भी दीखता है और बदलने-मिटनेवाला भी दीखता है। इन दोनोंमें बदलने-मिटनेवाला तो संसार है और 'है'-पना परमात्माका है। (९.६.१९८६, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

दानसे सम्बन्ध जुड़ता है और त्यागसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। (११.६.१९८६, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

दान करनेसे पुण्य होगा—इसमें महत्त्व पैसोंका ही है। पैसोंका महत्त्व होनेसे कल्याण नहीं होगा, जन्म-मरण नहीं मिटेगा। महत्त्व त्यागका होना चाहिये। अधिक पैसे दान करनेसे अधिक पुण्य होगा—इसमें रुपयोंका उतना ही महत्त्व है, जितना लोभीके हृदयमें होता है! (१७.६.१९८६, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति वर्तमानकी है, भविष्यकी है ही नहीं! परमात्मप्राप्ति कभी भी होगी तो अभी भी हो सकती है। अगर अभी नहीं हो सकती तो कभी भी नहीं हो सकती।

परमात्मप्राप्तिके लिये आपको क्या परिश्रम, बल, योग्यता चाहिये? सुगम-कठिन तो तब कहें, जब करना पड़े। जो है ही, उसमें क्या सुगमता, क्या कठिनता? (१.७.१९८६, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

श्रोता—जड़-चेतनकी गाँठ क्या है?

स्वामीजी—जड़को अपना मान लिया—यही ग्रन्थि है। यह गाँठ चेतनने की है, जड़ने नहीं। कठिनता

क्या है? संयोगजन्य सुख चाहते हैं। (३.७.१९८६, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'साहिब पाया तृन ओळे'—इतना बड़ा परमात्मा तृणकी ओट छिपा हुआ है! वास्तवमें वह तृण भी नहीं है, वही है!! (१४.७.१९८६, प्रातः ५, वेदभवन, फलोदी)

*** *** ***

जो सेवाके लिये संसारमें रहता है, उसको रोना नहीं पड़ेगा। परंतु जो लेनेके लिये रहता है, उसको रोना पड़ेगा ..... पड़ेगा ..... पड़ेगा!! (१४.७.१९८६, रात्रि ८.३०, फलोदी)

*** *** ***

जो हमारे लिये ठीक नहीं है, दूसरोंके लिये ठीक नहीं है, अभी ठीक नहीं है, और परिणाममें ठीक नहीं है—ये चार काम मत करो। (२५.७.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मानना ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। अपना नहीं है—इसको एक मिनट भी पूरी तरह मान लो तो उसी मिनट परमात्माकी प्राप्ति है! मेरी नहीं है—ऐसा मानते ही उससे सम्बन्ध टूट जायगा। चाहे अभी मानो या जन्मोंके बाद, यह काम तुरन्त होनेवाला है, धीरे-धीरे होनेवाला नहीं है।

यह मेरा है, यह मेरा नहीं है—ऐसा माननेमें कोई परिश्रम नहीं है। ऐसा माननेके लिये मन एकाग्र करनेकी जरूरत नहीं है। अपना मानना अथवा अपना न मानना पशु-पक्षियोंको भी आता है। यह कोई गहरी विद्या नहीं है। मानना अथवा न मानना मनसे नहीं होता, प्रत्युत खुदसे होता है। जहाँ 'मैं हूँ' मानते हैं, वहीं मानना है कि संसार मेरा नहीं है। (२७.७.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

शरीरको अपना नहीं माना तो इसकी पहचान क्या है? कि मान-अपमान, निन्दा-तिरस्कारका अपनेमें फर्क नहीं पड़ना चाहिये। दूसरे शरीरसे अपने शरीरमें फर्क नहीं दीखना चाहिये। जैसे कुत्तेका तिरस्कार हुआ, ऐसे इस शरीरका तिरस्कार हुआ तो फर्क क्या पड़ा? कुत्तेका शरीर भी अपना नहीं, यह शरीर भी अपना नहीं। (२९.७.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

जिनको हम अपना कहते हैं, वे इतना हमारे काम नहीं आते, जितना वे काम आते हैं, जिनको हम अपना नहीं मानते।

जिनको अपना मानते हैं, वे ही हमारा नाश, पतन करते हैं! गुरुका पतन चेला ही कर सकता है, दूसरा नहीं। जिनको अपना मानते हैं, वे ही धोखा देंगे, कष्ट देंगे। तुलसी, प्रह्लाद, मीरा आदिको अपना कहलानेवालोंने जितना कष्ट दिया, उतना और किसीने नहीं। सम्बन्धी ही बाँधनेवाले होते हैं। जिनको अपना मानते हैं, उन्हींकी चिन्ता होती है, वे ही हमें चिन्तित करते हैं। (३१.७.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

बड़े लोग जबर्दस्ती नहीं करते। भगवान् बड़ोंके सरदार हैं। मैं जैसा कहूँ, वैसा ही करो—यह बात अच्छे पुरुषोंमें नहीं होती। अच्छे (उदार) पुरुष सबको स्वतन्त्रता देते हैं, किसीपर हक नहीं जमाते। परिणाममें कहना माननेवाला मालिक हो जाता है और कहना करानेवाला गुलाम हो जाता है।

अच्छी बात सामने रख दें, करायें नहीं। वह करे तो आनन्दकी बात, न करे तो बहुत आनन्दकी बात!

अगर उससे अपना कहना करवाओगे तो पराधीन होना पड़ेगा।

भगवान्‌को खुद परवश होनेमें आनन्द आता है, दूसरेको परवश (अपने वश) करनेमें आनन्द नहीं आता। (७.९.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

शिष्यका कल्याण कैसे हो—यह गुरुका अधिकार है। शिष्य मेरे कहनेके अनुसार चले—यह गुरुका अधिकार नहीं है। यह अधिकार शिष्यका है।

पुत्र कहना न करे, आचरण ठीक न करे तो उसको अपना पुत्र मत मानो, ऐसा मानो कि कोई विधर्मी हमारे घर आ गया है। आया है तो उसका पालन-पोषण करो।

किसी पारमार्थिक कार्यके समय नौकर या मजदूरको कहते हैं कि परमार्थका काम है, पैसे कम लो तो इसके मूलमें केवल पैसोंका लोभ है कि पैसे बच जायँ, परमार्थका नामोनिशान नहीं है! अगर परमार्थका काम है तो उसको ज्यादा लाभ होना चाहिये। (८.९.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

अगर कल्याण चाहते हैं तो जितना हम जानते हैं, उससे अधिक जाननेकी जरूरत नहीं है। जितनी वस्तुएँ मिली हैं, उससे अधिक वस्तुकी जरूरत नहीं है। जो मिला है, उसीसे हमारा कल्याण हो सकता है। समयकी भी कमी नहीं है। जो समय मिला है, उसके थोड़े-से हिस्सेसे हमारा कल्याण हो जायगा! जितनी समझ है,वह पूरी काम नहीं आयेगी, थोड़े-से हिस्सेसे ही काम बन जायगा! कमी एक ही है कि कल्याणकी, भगवत्प्राप्तिकी इच्छा नहीं है!

जितना कर सकते हैं, उतना ही करना है। जितना जान सकते हैं, उतना ही जानना है। जितना मान सकते हैं, उतना ही मानना है।

अपनेमें जितनी शुद्धि अधिक होती है, उतनी अपनेमें अशुद्धि दीखती है—***'मो सम कौन कुटिल खल कामी'*** (सूरदास)। सफेद कपड़ेमें दाग ज्यादा दीखता है। (१०.९.१९८६, प्रातः ५, पुष्पभवन, जोधपुर)

*** *** ***

हरेक परिस्थिति भगवान् भेजते हैं। आप भेजी हुई चीजपर दृष्टि मत रखो, भेजनेवालेपर दृष्टि रखो। (१२.१०.१९८६, प्रातः ५, गट्टानी भवन, नोखा)

*** *** ***

'करने' से सीमित काम होता है। प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है, फिर उसका फल कैसे असीम होगा? परंतु 'मानने' का आरम्भ और अन्त नहीं होता। 'करना' कठिन है, पर 'मानना' कठिन नहीं है। परमात्माको अपना माननेमें सभी स्वाधीन हैं, और सांसारिक वस्तुओंको अपना माननेमें सभी पराधीन हैं।। मूलमें गलती यह है कि जिसमें आप पराधीन हो, वह काम करते हो, पर जिसमें आप स्वाधीन हो, वह काम नहीं करते! (१३.१०.१९८६, प्रातः ५, गट्टानी भवन, नोखा)

*** *** ***

चुप हो जाओ, पर झूठ मत बोलो। साफ कह दो कि सब बातें बतानेकी नहीं होतीं। (१४.१०.१९८६, प्रातः ५, गट्टानी भवन, नोखा)

*** *** ***

सेवा उतनी करे, जो हमारी शक्तिके अनुसार हो और दूसरेकी माँग न्याययुक्त हो। अधिक सेवा करना

चाहेंगे तो पराधीन होना पड़ेगा।

हमारी चीज दूसरा नहीं ले सकता। हमें आनेवाला बुखार आपको नहीं आ सकता तो क्या हमारी रोटी आप खा लोगे? (१८.१०.१९८६, प्रातः ५, रामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया तो कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है, उसके उपार्जनकी जरूरत नहीं है। **परमात्मप्राप्तिके लिये नया कोई पुरुषार्थ करना ही नहीं है। नया कुछ नहीं करना है, नया कुछ नहीं उपार्जन करना है। यह बहुत-बहुत-बहुत विलक्षण बात है!!** (१९.१०.१९८६, प्रातः ५, रामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

कभी किसी भी अवस्थामें संसारको अपना न माने। इसपर दृढ़ रहे।

जो असली साधक होता है, वह अपने साधनको नींदसे उठते ही पकड़ लेता है। सिद्धावस्थामें पकड़ना-छोड़ना नहीं होता।

अगर संसार प्रिय, अच्छा लगता है तो संसारकी सत्ता आ गयी, भले ही संसारको असत्य कहते रहो। (२२.१०.१९८६, प्रातः ५, रामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

अगर हम निर्दोष हैं तो दूसरा कितना ही दोषारोपण करे, हमें (क्रोध न आकर) हँसी आयेगी। (१.१२.१९८६, प्रातः ५, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

जबतक साधन करते हुए यह भाव रहता है कि जो अभी प्राप्त नहीं है, उसको प्राप्त कर लें, तबतक वह पारमार्थिक साधन नहीं है, प्रत्युत कर्म है, भोग है!

वास्तवमें भोगमें जो सुख मिलता है, वह भी त्यागसे ही होता है। वृत्तियोंकी एकाग्रतासे सुख मिलता है तो यह भी वास्तवमें त्यागका सुख है। भोजनसे सुख नहीं होता, प्रत्युत भूखकी निवृत्तिसे सुख होता है। संयोगसे सुख नहीं होता, प्रत्युत वियोग होनेसे सुख होता है। **किसी भी भोगसे सुख होता है तो वह सुख उस भोगसे सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है।** मनकी निकलना ही सुख है, और कुछ नहीं।

रुपयोंके खर्चमें जितना सुख होता है, उतना रुपयोंके संग्रहका सुख नहीं होता। (१५.१२.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

दुःखको स्वीकार करनेसे ही सुखकी इच्छा होती है। दुःखको स्वीकार न करो तो सुखकी इच्छा नहीं होगी। (१६.१२.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

व्याख्यानमें कला होती है, पर सत्संगमें 'सत्' का संग होता है। दोनों अलग-अलग चीजें हैं। (१७.१२.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** ***

दूसरोंको समर्थ बनानेवाला समर्थ होता है। जो दूसरोंको असमर्थ (कमजोर) बनाता है, वह असमर्थ होता है। दूसरेका नुकसान करनेवाला कभी समर्थ नहीं होता। ऐसे ही पवित्र वह है, जो दूसरोंको पवित्र

कर दे। गुरु वही है, जो दूसरेको गुरु बना दे। शक्तिशाली वही है, जो दूसरेको शक्तिशाली, श्रेष्ठ बना दे। (१८.१२.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

परमात्मप्राप्तिके सिवाय और कुछ होगा नहीं, जो होगा वह 'नहीं' में चला जायगा। परमात्माके सिवाय और कुछ प्राप्त कर ही नहीं सकते, जो प्राप्त करोगे, वह सब 'नहीं' में चला जायगा। (२५.१२.१९८६, प्रातः ५, गोविन्दभवन, कलकत्ता)

*** *** ***

गीता आदिका पाठ करे तो भगवन्नाम लिखकर सामने रख ले। बीच-बीचमें उस नामको देखता रहे। इस प्रकार नेत्रोंसे भी नामजप होता है। गीतापाठ भी जप ही है। (२१.१.१९८७, प्रातः ५, जैन कॉलोनी, मद्रास)

*** *** *** ***

दुनियाका हित करनेके लिये कुछ सीखनेकी, कुछ पानेकी, कुछ संग्रह करनेकी जरूरत नहीं है। व्याख्यान देकर दुनियाका हित करें—यह वास्तवमें देनेकी इच्छा नहीं है।

देनेके लिये कुछ लेनेकी जरूरत नहीं है। मालपर ही टैक्स लगता है। धर्मके लिये धन कमानेकी जरूरत नहीं है। दुनियाके हितके लिये किसी योग्यता, धन आदिका उपार्जन करनेसे दुनियाका हित होता ही नहीं। **जो अपने पास है, उसीको दुनियाकी सेवामें लगाना है। कुछ लेकर देनेकी जरूरत ही नहीं है।** दुनियाके हितके लिये श्रवण-मनन-निदिध्यासन करनेकी भी जरूरत नहीं।

आपके पास जो है, वही आपका कल्याण करनेके लिये पर्याप्त है, नया उपार्जन करनेकी जरूरत ही नहीं है। नया कुछ साधन, त्याग, तपस्या आदि करनेकी जरूरत नहीं है। मैं-मेरेका त्याग करना है—केवल इतना ही काम है। (२३.१.१९८७, प्रातः ५, जैन कॉलोनी, मद्रास)

*** *** ***

साधुको काम-धंधेसे निवृत्ति नहीं करनी है, प्रत्युत राग-द्वेषसे निवृत्ति करनी है। काम-धंधेसे निवृत्ति करनेसे तो वह आलसी, प्रमादी बनेगा। यह निठल्लापन है, वैराग्य नहीं। (९.२.१९८७, प्रातः ५, महेश भवन, नागपुर)

*** *** ***

दुष्ट पुरुषसे न राग करे, न द्वेष करे, उदासीन रहे तो वह हार जायगा। राग या द्वेष करनेसे उसका बल बढ़ेगा। उसका प्रतिकार न करना ही प्रतिकार है। (१०.२.१९८७, प्रातः ५, महेश भवन, नागपुर)

*** *** ***

हमारे मनकी बात हो, जैसा हम चाहें वैसा हो—यह बात उन्नति नहीं होने देती। जो आराम चाहता है, वह वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता। मनकी चाहना और आराम चाहना—ये भगवत्प्राप्तिमें बाधा डालनेके सिवाय और कुछ काम नहीं आयेंगे। आप अपने मनकी बात नहीं छोड़ सकते, आराम नहीं छोड़ सकते तो आपकी आध्यात्मिक उन्नति कैसे होगी? (११.२.१९८७, प्रातः ५, महेश भवन, नागपुर)

*** *** ***

संसारके आदमी कर्जदार रहते हैं, पर सन्त और भगवान्—ये दो कर्जदार नहीं रहते। उपकार करनेवाले ऋणी नहीं रहते—***'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'***

सत्संग वह है, जिसके साथ आप चिपक जाओ। चखा और छोड़ दिया, चखा और छोड़ दिया—यह सत्संग नहीं है।

भगवान्‌के सिवाय और कोई हमारा नहीं है—यह सत्संग है। (१२.२.१९८७, प्रातः ५, महेश भवन, नागपुर)

*** *** ***

अपनेमें अच्छाईका अभिमान मूर्खताकी पहचान है। आधा घड़ा छलकता है। मूर्ख ज्यादा बोलता है। ज्यों-ज्यों जानकारी बढ़ती है, त्यों-त्यों मनुष्य गम्भीर, शान्त होता है। (८.४.१९८७, प्रातः ५, जयपुर)

*** *** ***

मुक्तिकी इच्छा होनेसे शरीरके रहनेकी इच्छा नहीं होती। अगर होती है तो मुक्तिकी इच्छा है ही नहीं। (२८.४.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

हम भगवान्‌से और भगवान् हमसे कभी अलग नहीं हो सकते—यही भगवान्‌में अपनेपनकी विशेष बात है! सभी योग इस बातमें आ गये!! (११.५.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जहाँ अपनेमें मान, बड़ाई, आदरकी इच्छा हुई कि सब पुण्य पापोंमें बदल जायँगे, सदाचार दुराचारमें बदल जायगा! **लोग मुझे अच्छा समझें—यह वासना तभीतक है, जबतक आप अच्छे नहीं हैं।** (२०.५.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भोग तथा संग्रहमें लगा व्यक्ति दान-पुण्य करता है, सेवा करता है, पर परमात्मामें लगा व्यक्ति उतनी सेवा नहीं करता, तो भी परमात्मामें लगे व्यक्तिके द्वारा बड़ी ठोस सेवा होती है, उसका प्रभाव ज्यादा पड़ता है।

उद्देश्यका बड़ा विलक्षण असर पड़ता है। परमात्माकी तरफ थोड़ी रुचि भी बड़ी विलक्षण होती है। दूसरे जो दान-पुण्य करते हैं, उससे लेनेवाले और देनेवाले दोनोंके अन्तःकरणमें जड़ पदार्थोंकी महत्ता बढ़ती है। (२१.५.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

एक आदमीने नौकरको रखा और कहा कि तू मेरे इस घोड़ेकी निगाह रखना। सुबह जब वह आया तो देखा कि वहाँ घोड़ा नहीं है! नौकर बैठा था। उससे पूछा कि घोड़ा कहाँ चला गया? तू क्या कर रहा था? नौकर बोला कि आपने तो निगाह रखनेके लिये कहा था, इसलिये मैंने निगाह रखी कि एक चोर आया, उसने घोड़ेको खोला, फिर घोड़ेपर बैठा और फिर उसको भगाकर ले गया—यह मैंने पूरी निगाह रखी। ऐसे ही आप 'यह असत् है, नाशवान् है'—यह पूरी निगाह रखते हो, पर उसका महत्त्व नहीं छोड़ते!! (३१.५.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' तो मान्यता है और 'हूँ' सत्ता है। मैंपन प्रकृतिका अंश है और अपना होनापन परमात्माका अंश है। मैंपन वृक्षकी तरह एकदेशीय है और सत्ता प्रकाशकी तरह सर्वदेशीय है। 'मैं' के मिटते ही 'हूँ' की जगह सर्वदेशीय 'है' रह जायगा। (२५.६.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'है' में चुप हो जाओ। 'है'— इसमें ही रहो, और कोई कल्पना मत करो, 'है' की खोज मत करो, अन्यथा प्रकृतिमें स्थित हो जाओगे। 'है' में न स्थित होना है, न उसको देखना है, न उसको जानना है। जानोगे तो 'मैं' में स्थित होना पड़ेगा। केवल 'है', बस। 'है' में कोई प्रश्न नहीं होता। प्रश्न-उत्तरका आदि-अन्त होता है, पर 'है' का आदि-अन्त नहीं होता। (२६.६.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

रात्रि सोते समय बैठकर विचार करो कि सब अवस्थाएँ, क्रियाएँ प्रकृतिमें हैं, मेरा स्वरूप अलग है। मेरा (स्वरूपका) सम्बन्ध संसारसे है ही नहीं—ऐसा निश्चय करके सो जाओ। फिर प्रातः उठते ही याद करो कि बात सही है, संसारके साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं। दिनमें भी कई बार चुप, शान्त होकर देखो कि अपनेमें कोई क्रिया नहीं है। संकल्प-विकल्प हों तो वे भी अपनेमें नहीं हैं, प्रकृतिमें हैं। इनका मेरे साथ सम्बन्ध ही नहीं है। (२८.६.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

परमात्माको प्राप्त करना नया काम नहीं है—यह बहुत मार्मिक बात है! वह है—ऐसा मान लो, उसको देखो मत। देखते ही आप नीचे आ जाओगे! 'मैं' को, अपने-आपको देखा है क्या? नहीं देखा, फिर भी उसको मानते हो कि नहीं? 'मैं' केवल आपका माना हुआ है, है नहीं। जो झूठी मान्यता है, उस 'मैं' को तो आपने पकड़ लिया और 'है' को नहीं मानकर देखना चाहते हो? इसलिये आप देखो मत। देखनेकी इच्छा होनेसे त्रिपुटी आ जायगी, तीन चीज हो जायगी, जबकि तत्त्व एक है। (२९.६.१९८७, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

एक सन्तने पूछा कि असंगता स्थायी नहीं रहती, क्या करूँ? मैंने कहा कि 'मेरेमें असंगता आ जाय, असंगता बनी रहे'—यही असंगताका संग है! (१२.७.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

जिसमें ममता, वासना अधिक है, जिसका अधिक स्वप्न आता है, उसीकी याद अन्तसमयमें भी आयेगी। अगर आप अन्तकालमें भगवान्‌को याद रखना चाहते हैं तो संसारमें अपनापन न रखकर भगवान्‌में ही अपनापन कर लें। अन्तकालमें उसीका स्मरण होगा, जिससे आपने अपना सम्बन्ध मान रखा है। जिसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना है, उसकी याद अपने-आप, अचानक आयेगी। (१३.७.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

'मैं' सदेह है और 'हूँ' विदेह है। जो विदेह है, वही विदेह होता है। (१८.७.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

जो 'मैं ब्रह्ममें स्थित हूँ'—इस प्रकार केवल अपनेको ब्रह्ममें स्थित मानता है, दूसरोंको नहीं, तो यह व्यक्तित्व है। व्यक्तित्वमें बन्धन है।

जीवमात्र 'स्व' में स्थित है—यह देखना ही समदर्शन है (गीता ५। १८)। वास्तवमें सब-के-सब 'स्व' में ही स्थित हैं, पर वे शरीरमें स्थिति मानते हैं; क्योंकि उधर दृष्टि नहीं है।

'स्व' में स्थित होनेपर सब एक हैं, अन्यथा दो भी एक समान नहीं हैं। (२२.७.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

पहले कपास है, फिर रुई है, फिर सूत है, फिर कपड़ा है—इसमें कपास तो बदलकर कपड़ा बन गया, पर 'है' वही रहा! (१.८.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

मनको अपना मानकर शुद्ध करोगे तो एक क्या, अनन्त जन्मोंतक मन शुद्ध नहीं होगा; क्योंकि अपना मानना ही मल है, अशुद्धि है। (४.८.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

सत्संगकी बातोंको महत्त्व दें तो अवश्य असर पड़ेगा। जैसे रुपये मिलते हैं तो एक खुशी आती है और उन रुपयोंको खूब सँभालकर रखते हैं, ऐसे ही सत्संगकी बातें मिलनेसे एक खुशी आये और उन बातोंको दुर्लभ समझकर सँभालकर रखें। (६.८.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

रोना वस्तुके अभावसे नहीं होता, प्रत्युत वस्तु मिल जाय—इस इच्छासे होता है। (१३.८.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

मनुष्य जितना त्यागी, निर्लिप्त होगा, उसके द्वारा सांसारिक काम भी उतना बढ़िया होगा। लोभीके द्वारा दूकान बढ़िया नहीं चलती। लोभी धन नहीं कमा सकता। अगर लोभी व्यक्तिके पास धन ज्यादा होता तो जेबकतरोंके पास ज्यादा धन होना चाहिये!

मोहसे कुटुम्बका पालन बढ़िया नहीं होता। मोहरहित होनेपर कुटुम्बका पालन सुचारुरूपसे होता है। पढ़ाईमें भी साधु छात्र गृहस्थ छात्रोंसे आगे रहते हैं। (२४.८.१९८७, प्रातः ५, सत्यम् शिवम् भवन, अजमेर)

*** *** ***

दवाई आदिका छिड़काव करके जीवोंको नहीं मारना चाहिये। अपनी रक्षा करनेका हमें अधिकार है, मारनेका अधिकार नहीं है। हम निर्बलोंको मारेंगे तो जो हमारेसे सबल हैं, वे हमें मारेंगे; क्योंकि हमने यह रीत शुरू कर दी! जिसने जीवोंको बनाया है, वही सोचेगा। हमें क्या उनको मारनेका हुक्म मिला है? (१४.११.१९८७, प्रातः ५, दिल्ली)

*** *** ***

जानकारीका अभिमान, साधनमें शिथिलता और हताश होना—ये तीन साधकके प्रधान दोष हैं। (२१.११.१९८७, प्रातः ५, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

अन्तःकरणमें वस्तु और क्रियाका महत्त्व अंकित होनेसे ही हमें विध्यात्मक साधन अच्छा लगता है। अगर निषेधात्मक साधनकी तरफ ख्याल हो जाय तो जल्दी उन्नति हो जायगी। भला करनेकी अपेक्षा बुरा न करना बढ़िया है। सत्य बोलनेकी अपेक्षा झूठ न बोलना बढ़िया है। भगवान्‌का ध्यान लगानेकी अपेक्षा संसारका चिन्तन न करना बढ़िया है। उपकार करनेकी अपेक्षा अपकार न करना बढ़िया है। देनेकी अपेक्षा न लेना बढ़िया है। (२.१२.१९८७, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

ब्रह्मविद्या अविद्याका नाश करनेके लिये है, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये नहीं। तत्त्वज्ञान अज्ञानको मिटानेके लिये है। वह परमात्मतत्त्वके आवरणको हटाता है। अज्ञानको मिटाकर ज्ञान भी शान्त हो जाता है। (३.१२.१९८७, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

तीनमेंसे कोई एक बात मान लो—१) केवल भगवान् मेरे हैं, अन्य कोई मेरा नहीं है। २) जैसे शरीर अपना है, ऐसे मात्र संसार अपना है। अतः सबकी सेवा करो। ३) जैसे संसारसे उदासीन हैं, ऐसे शरीरसे भी उदासीन हो जाओ। इन तीनों बातोंसे संसारका व्यवहार भी बढ़िया होगा। कोई अपना है, कोई अपना नहीं है—इससे व्यवहार घटिया होता है। (१७.१२.१९८७, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

जैसे हल्ला हो रहा हो, कई आवाजें आ रही हों तो उसमें अपने पुत्रकी आवाज आनेपर भी पहचानमें नहीं आती, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ मिल जानेसे अपनी (स्वरूपकी) पहचान नहीं हो रही है!! (१९.१२.१९८७, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

आजकलके जमानेमें गुरुका उच्छिष्ट शिष्यको और पतिका उच्छिष्ट पत्नीको नहीं खाना चाहिये। कारण कि आजकल गुरु-शिष्य, पति-पत्नीका सम्बन्ध पहले-जैसा नहीं रहा। प्रत्येक व्यक्ति गुरु बनकर जूठन देने लगेगा तो जाति भ्रष्ट हो जायगी। पतिका जूठन खानेसे पत्नीमें जूठनकी ग्लानि मिट जायगी, जिससे रसोईमें जूठन आ जायगी। (२०.१२.१९८७, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

शरीरकी सहायतासे भजनरूपी क्रिया होती है, भजन नहीं होता। भजन है—अपनी लगन, चाहना, भीतरकी भूख। भगवान्‌को अपना मानना भगवान्‌का भजन है। जो नहीं है, उस संसारको अपना मानना संसारका भजन है। असली भजन है—भगवान्‌के बिना रह न सकें। स्वयंमें भूख भगवान्‌की है। क्रियारूपी बनावटी भजन भी करो तो उसका नतीजा असली भजन हो जायगा। (२१.१२.१९८७, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

हम मान चाहते हैं—इसीने हमारा अपमान किया है। हम बड़ाई चाहते हैं—इसीने हमारी बड़ाई नहीं होने दी। साधु अपना मान चाहते हैं, इसलिये उनका तिरस्कार हो रहा है। हमारे इष्टको सब मानें—इसी कारण सब हमारे इष्टको नहीं मानते। हम रात-दिन उसमें लग जायँ, तब प्रचार होगा, दूसरे मानें—इससे प्रचार नहीं होगा। कोई पतिव्रता कहे कि मेरे पतिको तुम भी ईश्वर मानो तो दूसरी स्त्री कहेगी कि क्यों मानें? क्या मेरे पति नहीं हैं?

जिसको हम हृदयसे महत्त्व देते हैं, उसीका प्रचार होगा। हम जिसमें तत्परतासे लगे हैं, उसकी लोग खोज करेंगे। कोई व्यापार करनेमें तत्पर होगा तो लोग उसके व्यापारके तरीकेको खोज निकालेंगे। परंतु वह दूसरेके व्यापारकी बातें करेगा तो लोगोंमें यह भाव आयेगा कि तुम क्यों नहीं वह व्यापार कर लेते? **जिस बातको हम अपने काममें लायेंगे, उसका प्रचार ठोस होगा, नहीं तो ऊपर-ऊपरसे प्रचार होगा।** वेश्याका वचन और पतिव्रताका वचन—दोनोंमें बड़ा फर्क होता है। अतः खुद भी आचरण करे और प्रचार भी करे—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं।'

जिस बातका महत्त्व बढ़ाना चाहते हो, उसका हल्ला मत करो, उसको अपने काममें लाओ। (९.१.१९८८, प्रातः ५, सूरसागर रामद्वारा, जोधपुर)

*** *** ***

एक जेब कतरता है अर्थात् चोरी करके पैसा लेता है, और एक कान कतरता है अर्थात् कथा करके पैसा लेता है—दोनोंमें क्या फर्क हुआ? पैसोंका महत्त्व दोनोंमें बराबर है। (१९.३.१९८८, प्रातः ५, श्रीरामधाम, सींथल)

*** *** ***

श्रोता—मनुष्य जन्मसे बड़ा बनता है या कर्मसे?

स्वामीजी—मनुष्यको जन्मसे तो अधिकार मिलता है और कर्मसे वह बड़ा होता है। जन्म बीज है और कर्म हवा-पानी-खाद है, जिससे बीज बढ़कर वृक्ष बनता है। (८.८.१९८८, प्रातः ५, सूरसागर रामद्वारा, जोधपुर)

*** *** ***

श्रोता—सत्संगमें जैसा फर्क पड़ता है, वैसा बादमें नहीं रहता!

स्वामीजी—विवाह सैकड़ों व्यक्तियोंके बीच होता है, पर बादमें सैकड़ों व्यक्ति साथ रहते हैं क्या? और बादमें स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें कोई फर्क पड़ता है क्या? मैं तो आपको खुदकी बात कहता हूँ। खुदकी बात याद नहीं रहेगी तो क्या याद रहेगा? केवल मानना है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। (६.९.१९८८, प्रातः ५, सूरसागर रामद्वारा, जोधपुर)

*** *** ***

अपना माननेकी जो शक्ति है, वह भगवान्‌को अपना माननेके लिये ही है। (२१.९.१९८८, प्रातः ५, सूरसागर रामद्वारा, जोधपुर)

*** *** ***

पाप ही रोगके कीटाणुओंको पैदा करते हैं। वैज्ञानिकोंको यह तो पता लगा कि गंगाजलसे रोगके कीटाणु नष्ट होते हैं, पर पाप भी नष्ट होते हैं—यह उनकी पहुँचसे बाहर है!

प्रतीक्षा भगवान्‌को बहुत जल्दी बुलाती है। (१३.१०.१९८८, रात्रि ७.३०, रोहतक)

*** *** ***

घर छोड़कर तीर्थोंमें रहना तीर्थवास है, वानप्रस्थ नहीं। वानप्रस्थका अर्थ है—वनको प्रस्थान करना। वानप्रस्थमें हल जोतनेसे उत्पन्न अनाज नहीं खाया जाता। केवल वृक्षोंसे उत्पन्न फल तथा कन्द-मूल खाकर निर्वाह करना पड़ता है।

संन्यास लेनेपर यदि घरवालोंके हानि-लाभ, जन्म-मरणका असर पड़ता है तो कपड़े दूसरे होते हुए

भी वह वास्तवमें घरमें ही स्थित है।

आप शरीरकी सेवा करोगे तो संसारके हो जाओगे, और संसारकी सेवा करोगे तो भगवान्‌के हो जाओगे। (१३.१२.१९८८, प्रातः ५, सिंहानिया कन्या विद्यालय, मिर्जापुर)

*** *** ***

तत्त्वज्ञान होनेसे कुछ विशेषता नहीं आती। जो विशेषता आती है, वह मिट जाती है। सांसारिक शोक-चिन्ता मिट जाते हैं। तत्त्वज्ञान होनेकी जो महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है, वह ज्ञानप्राप्तिकी महिमा न होकर अज्ञान-निवृत्तिकी महिमा है। श्रेष्ठता व्यक्तित्वमें होती है, व्यक्तित्व-रहित तत्त्वमें नहीं। पहलेके शोक-चिन्ता आदि मिट जाते हैं, आता कुछ नहीं। (१४.२.१९८९, प्रातः ५, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

यदि गंगाजीमें नामजपका नियम लिया जाय तो कहीं जाओ, गंगाजीमें नामजपका माहात्म्य होगा। ऐसे ही यदि रामधाममें नामजपका नियम लिया जाय तो कहीं जाओ, रामधाममें नामजपका माहात्म्य होगा। (१.३.१९८९, दोपहर ४, रामधाम, खेड़ापा)

*** *** ***

एक ज्ञान उत्पन्न होनेवाला है, एक ज्ञान रहनेवाला है। रहनेवाला ज्ञान वस्तुसे पहले रहता है। वस्तुको देखनेके बाद जो ज्ञान होता है, वह उत्पन्न होनेवाला है। रहनेवाला ज्ञान अलुप्त प्रकाश है, जिससे संसारके सभी ज्ञान प्रकाशित होते हैं।

ज्ञान नाम चेतनका है, जो सत्-चित्-आनन्दरूप है। वह अलुप्त प्रकाश ज्यों-का-त्यों, स्वतःसिद्ध तत्त्व है। केवल उधर लक्ष्य करना है, करना कुछ नहीं है—***'संकर सहज सरूपु सम्हारा'*** (मानस, बाल० ५८। ४)। कुछ भी समझमें न आये तो इतना मान लो कि वह 'है'। उस 'है' के ज्ञानके लिये दूसरे किसी ज्ञानकी जरूरत नहीं है। वह सूर्यकी तरह स्वयंप्रकाश है। वह सबको स्वतःप्राप्त है।

'करने' से पैदा होनेवाली वस्तु प्राप्त होती है। उस तत्त्वके लिये करना कुछ नहीं है। संसारकी सत्ता मान रखी है, उसको दूर करनेके लिये जप आदि करना है, उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये नहीं। वह होनापन स्वतःसिद्ध है। (१०.४.१९८९, प्रातः ५, रामधाम, सींथल)

*** *** ***

नामकी महिमा जप करनेसे समझमें आती है। महिमा सुननेसे थोड़ी-सी रुचि हो जाती है। जो ताकत भावमें, बोधमें है, वह क्रियामें नहीं है। क्रिया जड़ है। भाव विलक्षण है। परंतु **नामजपकी क्रियामें भी विलक्षणता है, जिससे भाव जाग्रत् होता है।** अगर पहले ही भावपूर्वक नामजप किया जाय तो आधे नाममें ही भगवान् आ जायँ! भावपूर्वक नामजप किया जाय तो भगवान् छिपे नहीं रह सकते! वह भाव भी भगवान्‌से माँगो कि 'हे नाथ! वह भाव दो, जिस भावसे आप मिलते हैं'! (११.४.१९८९, प्रातः ५, रामधाम, सींथल)

*** *** ***

दो पक्षोंमें परस्पर खटपट हो जाय तो जो पक्ष पहले माफी माँग ले, उसकी विजय होती है। (१४.४.१९८९, सायं ५, रामधाम, सींथल)

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्ति कैसे करें—यह कुछ भी समझमें न आये तो रात-दिन राम-राम जप करो। आप

नामको नहीं छोड़ो तो भगवान् आपको नहीं छोड़ेंगे! नामजप क्रियाशक्ति है, पर इस क्रियाशक्तिमें भी भावशक्ति, विचारशक्ति भरी हुई है!! नाममें अचिन्त्य, अपार शक्ति है! नामजपसे ही सब कुछ हो जायगा। तीन वर्ष क्या, तीन दिन भी करके देख लो! (२९.४.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सर्वश्रेष्ठ उपासना तब होती है, जब भगवान्‌में तल्लीनता हो। वह तल्लीनता चाहे नामजप, कथा, ध्यान आदि किसीसे भी हो, वही करे। सबका माहात्म्य एक है। यह तल्लीनता, प्रियता कैसे हो? इसमें खास बात है—भगवान्‌में अपनापन, भगवान् मेरे हैं। (२९.४.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भोगोंकी आसक्ति निरन्तर नहीं रहती। जिस भाग (समय)-में आसक्ति नहीं रहती, उस भागकी तरफ ध्यान दें। जिस भागमें आसक्ति रहती है, उसको मिटानेका उद्योग करना गलती है। मिटानेका भी संस्कार पड़ता है। प्रवाहको बहने दो, रोको मत। उसकी उपेक्षा करो, तटस्थ हो जाओ। (२.५.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

प्रतीतिके पहले जो भाव है, वह परमात्मा है और प्रतीतिके बाद जो भाव होता है, वह संसार है। पहले भाव होता है कि यह है, फिर प्रतीति होती है कि यह क्या है। यह क्या है—इसके बाद आप कल्पना करते हैं।

'स्मार्तमत' वेदोंको, शास्त्रोंको मानता है और 'वैष्णवमत' भगवान्‌को मानता है। वैष्णवमतमें एकादशीमें द्वादशी (द्वादशीकी घड़ियाँ) आनी चाहिये। परंतु स्मार्तमतमें एकादशीमें दशमीकी घड़ियाँ आती हैं। स्मार्तकी दशमीविद्धा एकादशीका फल 'मोहिनी' को मिलता है। *(देखें-नारदपुराण, उत्तरभाग)* (२.५.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अहम् (मैंपन)-को न रखो, न मिटाओ, उदासीन रहो। अहम् तो सभीमें है, फिर केवल एक अहम्‌से आपका विरोध क्यों? तत्त्वमें अहम् है ही नहीं, फिर मिटायें क्या? (९.५.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

परमात्मासे विमुख सब कुसंग है।

जिनसे पारमार्थिक लाभ हुआ है, उनके दोष मत सुनो। उनमें थोड़ी भी दोषदृष्टि हानिकारक है। (९.५.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

गंगाजी साधनमें सहायता करती हैं। ऐसी गंगाजीमें शक्ति है! (१०.५.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

श्रोता—राम, कृष्ण, शिव आदिमें बड़ा कौन है?

स्वामीजी—बड़ी तो हमारी भावना है। भावनासे भगवान् खम्भेमेंसे प्रकट हो गये!! (११.५.१९८९,

प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भोगके बिना आदमी रह सकता है, पर त्यागके बिना रह ही नहीं सकता। (१९.५.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नहीं रहनेवाली चीज अपने पुरुषार्थसे, सन्तकृपासे, गुरुकृपासे, भगवत्कृपासे भी नहीं रहेगी; क्योंकि वह रहनेवाली है ही नहीं! (२०.५.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

वेदोंकी महिमा सन्त जानते हैं, पर सन्तोंकी महिमा वेद भी नहीं जानते! भक्तोंकी महिमा अपार, असीम है! भगवान् भी जिनके वशमें हो जायँ, उन भक्तोंकी महिमा कौन कह सकता है!! संसारमें जो भी उत्तम भाव, क्रिया आदि है, वह सब सन्तोंकी कृपासे ही है। (३०.५.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सत्संग सब साधनोंकी माँ है और भगवन्नाम बेटा है! (६.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

साधना शरीरसे नहीं होती, प्रत्युत भीतरकी लगनसे होती है। शरीरसे संसारका काम होता है, परमात्माकी प्राप्ति होती ही नहीं।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २)

शरीर तो अधम है। क्या अधमसे परमात्माकी प्राप्ति होगी?

शरीर और आप दो हैं, एक नहीं हैं—इतनी बात मान लो तो बड़ा भारी काम हो गया! (७.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मैं, तू, यह और वह—ये चार हैं। स्त्रियाँ एक और शब्द 'वे' कहती हैं। जो खास अपना होता है, उस पतिको 'वे' कहती हैं। परमात्मा मैं-तू-यह-वह नहीं हैं, प्रत्युत 'वे' हैं, खास अपने हैं। मैं-तू-यह-वह—कोई अपना नहीं है, पर 'वे' अपने हैं। परमात्मा 'है' हैं, और उस 'है' का नाम ही 'वे' है। इसीको **'वासुदेवः सर्वम्'** कहा है। (१२.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सुनानेका शौक हो तो भोग होता है। सुनानेकी मनमें न हो और सुनाना पड़े तो योग होता है। (८.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सीताराम-सीताराम करते रहो और सीताजीके चरणोंमें गिर जाओ! माँ बहुत जल्दी कृपा करती है! (१२.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सहजावस्था अथवा सहज समाधिमें व्युत्थान नहीं होता। वह निरन्तर रहती है। **यदि कोई राजा**

सहजावस्थामें स्थित हो तो युद्ध करते समय भी उसकी सहजावस्था ज्यों-की-त्यों रहती है। (२०.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

बाधारहित साधन है—हर समय नामजप करो और प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'।

भगवान्‌ने ऐसा क्यों किया—यह 'क्यों' भगवान्‌में नहीं चलता। वे जो करें, उनकी मरजी। वे क्या आपसे सलाह लेकर करते हैं? आप दिनभर क्या दूसरेसे पूछकर कार्य करते हैं? (२०.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

यदि महात्मामें दोष दीखे तो अपनी समझकी विशेष कमी माने। अतः निःसंकोच भावसे उनसे पूछकर समाधान कर ले। हम समझे नहीं तो पूछनेमें क्या दोष है? पूछनेसे वे नाराज हो जायँगे—यह भी दोषदृष्टि है। वे दोषारोपणसे नाराज होते हैं, जिज्ञासासे नहीं। दोषदृष्टि रहनेसे उद्धारमें बाधा लगती है। (२१.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान्‌में अपनापन सर्वश्रेष्ठ साधन है। दूसरा मेरा नहीं है—यह होना चाहिये। हम तो केवल भगवान्‌के हैं, अब भगवान् चाहे जो करें, हमें चिन्ता किस बातकी? प्रेम हो या न हो, प्रेमकी गरज, भूख भगवान्‌को भी है, वे अपने-आप प्रेम करेंगे। हमारेमें अच्छापन नहीं है तो भगवान्‌को शर्म आयेगी, हमें किस बातकी चिन्ता? हम तो जैसे हैं, भगवान्‌के हैं। सर्वथा निश्चिन्त हो जाय!

काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

मैं भगवान्‌का हूँ—यह बात भीतरसे माननी है, ऊपरसे सीखना नहीं है। मैं भगवान्‌का हूँ—इसकी दृढ़ताके लिये दूसरेको अपना न माने। दूसरेको अपना न माननेके लिये प्रयत्न है—सेवा करो और चाहो कुछ मत। (२२.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

लंकिनी कहती है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(मानस, सुन्दर० ४)

लंकिनीको हनुमान्‌जीका मुक्का लगनेसे सुख नहीं हुआ, प्रत्युत भगवान्‌के भक्तके स्पर्शका सुख हुआ। भक्तका स्पर्श सत्संग है। भगवान्‌के दासका स्पर्श हो गया तो अब मेरा कल्याण हो ही गया! यह 'स्पर्शदीक्षा' है। भावसे लाभ होता है। लंकिनीका भाव अच्छा था। मुक्के तो और राक्षसोंको भी लगे थे! (२३.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

तत्त्वप्राप्तिकी जोरदार जिज्ञासा, उत्कण्ठा हुए बिना करण-निरपेक्ष साधन समझमें आना कठिन है। पारमार्थिक मार्गमें उत्कण्ठाके सिवाय और कुछ नहीं चाहिये।

सभी साधन निषेधपरक ही हैं। निषेध करना करण-निरपेक्ष ही है।

भोग और संग्रहके ऊपर ही देहाध्यास टिका है। (२५.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

करण-सापेक्ष साधन मत करो—यह आग्रह मेरा स्वप्नमें भी नहीं है। परंतु तत्काल सिद्धि चाहते हो तो करण-निरपेक्ष साधन मानना पड़ेगा। करण-निरपेक्ष साधनमें मनुष्यमात्र पात्र है, पर उसमें संयोगजन्य सुखकी आसक्ति बाधा है। (२७.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

हमारी सेवा कोई न करे तो बड़ा आनन्द आता है!! सेवा एक आफत मालूम देती है! हमारा काम सेवा लेना नहीं है। सेवा न होनेसे तप होगा। कल्याण तपसे होता है, भोगसे नहीं। यह तप भगवान्‌की ओरसे मिलता है। जिनको यह तप मिलता है, वे बड़े भाग्यशाली हैं! (२९.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसार तथा शरीरको बदलता देखकर भी जिसको वैराग्य नहीं होता, उसको उपदेशसे वैराग्य कैसे होगा? सबसे बढ़कर अनुभव होता है। संसार-शरीर कैसे थे और कैसे हो गये! बदलनेवालेमें राग, भरोसा, विश्वास कैसे होगा? (२२.७.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'है'-पना परमात्माका है और 'नहीं'-पना संसारका है। परमात्माके 'है'-पनेसे संसार 'है' दीखता है और संसारके 'नहीं'-पनेसे परमात्मा 'नहीं' दीखते। संसारमें 'नहीं'-पना ही कायम रहेगा और परमात्मामें 'है'-पना ही कायम रहेगा। (२४.७.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सहारा लेनेकी आदत जीवमात्रमें है और सहारा देनेकी आदत भगवान्‌में है। (२९.७.१९८९, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

हमारे देशकी रीति वस्तु, अन्न बढ़ानेकी थी, पैसा बढ़ानेकी नहीं। (३१.७.१९८९, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

सत्संग मिलना भगवान्‌की विशेष कृपाकी पहचान है। परंतु उससे लाभ उठाना अपने हाथकी बात है।

महापुरुषोंकी वाणीमें स्वाभाविक ही रहस्य, तत्त्व भरा होता है। उनको चिन्तन नहीं करना पड़ता। उनके मुखसे जो शब्द निकलते हैं, वे स्वाभाविक ही ज्ञानरूपी तराजूसे तुलकर निकलते हैं। उनकी साधारण वाणीमें भी तत्त्व भरा होता है। (१०.८.१९८९, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

मेरा कुछ नहीं है, न था, न होगा, न हो सकता है—यह असली संन्यास है।

जैसे गृहस्थसे साधु बने, ऐसे साधुसे भी साधु बन जाओ कि जैसे गृहस्थ अपना नहीं, ऐसे ही साधुपना भी अपना नहीं। अपना न गुरु है, न चेला है, न सम्प्रदाय है, न वर्ण है, न जाति है। जीते ही मर जाओ।

हम संसारके नहीं, संसार हमारा नहीं। (१४.८.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

भगवान्‌के विधानमें लाभ ही होता है। क्या ठीक है, क्या बेठीक है—इसमें हमारी अक्ल काम नहीं करती। भगवान्‌का विधान ठीक ही होता है। भगवान्‌के मात्र विधानमें आनन्द-ही-आनन्द होता है, पर इसको मनुष्य समझ नहीं सकता। (१७.८.१९८९, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

सत्संगका मौका भगवान्‌की कृपासे मिलता है। कृपाके सिवाय और किसी उपायसे यह नहीं मिलता। तत्त्वज्ञ महापुरुषोंका संग मिल जाय तो समझे कि भगवान् जबर्दस्ती कल्याण करना चाहते हैं!! (१७.८.१९८९, दोपहर ४.४५, बीकानेर)

*** *** ***

श्रीरामचरितमानस एक प्रासादिक ग्रन्थ है। जिसको केवल वर्णमालाका ज्ञान है, वह भी अगर अँगुली रखकर रामायणके एक-दो पाठ कर ले तो उसको पढ़ना आ जायगा! वह अन्य पुस्तकें भी पढ़ना शुरू कर देगा! (२०.८.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

साधुओंसे ज्यादा गृहस्थका काम-धंधा रहता है। अतः साधुओंको भजन-स्मरणके लिये ज्यादा समय मिलता है—ऐसा मानकर कई साधु हो जाते हैं। यह बात एक अंशमें ठीक होते हुए भी एक विलक्षण बात है कि गृहस्थमें लाभ ज्यादा होता है! साधुमें एक कच्चापन रहता है कि थोड़ी प्रतिकूलता आते ही उठकर चल देता है! उसमें प्रतिकूलता सहनेकी शक्ति कम होती है। यह प्रतिकूलतासे वैराग्य है!! यह वैराग्य तो कुत्तेमें भी होता है कि लाठी देखते ही भागता है। यह कायरता है, वैराग्य नहीं। अतः प्रतिकूलता सहनेमें गृहस्थ जितना तेज हो सकता है, उतना साधु नहीं।

गृहस्थोंका काम अधिक रहता है, साधुओंका सोना! काम करना राजसी है, सोना तामसी है। गृहस्थकी अपेक्षा साधु आराम-तलब ज्यादा होता है। वास्तवमें **न गृहस्थ होनेकी आवश्यकता है, न साधु होनेकी। आवश्यकता है सावधानीकी। सावधानी ही साधना है।** (३१.८.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

भक्तिमें आत्मीयता काम करती है, विचार काम नहीं करता।

भक्ति होती है भगवान्‌में अपनेपनसे, मिलती है सत्संगसे। (३.९.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

अगर महात्मा मुर्देको भी देख ले तो उसका कल्याण हो जाता है*; परंतु दुर्भाव होनेसे जीवित व्यक्तिको मुर्दे-जितना भी लाभ नहीं होता!! कुत्ते-गधेको जितना लाभ होता है, उतना लाभ भी दुर्भाव रखनेवालेको नहीं होता, उल्टे उसका नुकसान होता है! (३.९.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

---

* **महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः। परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥ कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम। यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥** (नारदपुराण, पूर्व० १। ७। ७४-७५) 'जो महापुरुषोंके द्वारा देख लिये जाते हैं, वे मनुष्य महापातक अथवा उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धुएँको अथवा उसकी चिताकी भस्मको भी देख लें तो वह भी परमगतिको प्राप्त हो जाता है!'

*** *** ***

मेरे मतमें परमात्माका सर्वश्रेष्ठ रूप है—'है' (सत्तामात्र)। मनमें जो भी आ जाय, वह परमात्मा है—यह 'है' की उपासना है। (६.९.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

जो आज प्रबन्ध करता है, वही आगे भी करेगा। अभी भगवान् प्रबन्ध करते हैं तो क्या आगे भगवान् मर जायँगे?

जब दाँत न थे तब दूध दियो, अब दाँत भये कहा अन्न न दैहैं।
जीव बसे जल में थल में, तिन की सुधि लेइ सौ तेरिहु लैहैं॥
जान को देत अजान को देत, जहान को देत सौ तोहूँ कूँ दैहैं।
काहे को सोच करैं मन मूरख, सोच करै कछु हाथ न ऐहैं॥

भगवान्‌का प्रबन्ध बहुत विलक्षण है, हम सोच भी नहीं सकते! हमारे विचार करनेसे पहले ही भगवान् प्रबन्ध कर देते हैं! (७.९.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

यहाँ जैसा भाव रहता है, वैसा घरमें नहीं रहता—इसका कारण है कि मेरेको तो भगवान्‌का मानते हैं, पर घरवालोंको भगवान्‌का नहीं मानते। सिपाहीको देखनेसे सरकारकी याद आती है। इसलिये सबको भगवान्‌का मानो। भगवान्‌के साथ सभी प्राणियोंका स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। (८.९.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

भक्ति (श्रीजी) पहले आती है, पीछे भगवान् आते हैं। प्रेम ही श्रीजी, सीताजी, गौरी, लक्ष्मी आदिके रूपमें आया है। यह प्रेमका ही अवतार है। ये हमलोगों-जैसे स्त्री-पुरुष नहीं हैं। भक्तिमार्गमें यह 'प्रेम' है और ज्ञानमार्गमें 'ब्रह्मविद्या' है। (८.९.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

गयाश्राद्ध करनेके बाद (जरूरत न होनेपर) भी श्राद्ध करते रहना चाहिये। इसमें दो बातें हैं—एक तो जो श्राद्ध मृतात्माको नहीं मिलता, वह अपने खातेमें जमा हो जाता है, और दूसरा, श्राद्ध करनेकी परम्परा चलती रहे। (९.९.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

*** *** ***

परमात्मा है और संसार नहीं है—ऐसा मानकर रात-दिन राम-राम करो तो 'चुप-साधन' स्वतः हो जायगा। (११.९.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

सब देश, काल, वस्तु आदिमें एक 'है' परिपूर्ण है। उस 'है' में आनन्द है। हम अपने-आपको मानते हैं, पर वह दीखता कहाँ है!

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

आप 'नहीं' से सुख लेना चाहते हो, इसलिये 'नहीं' में आकर्षण होता है। **वही 'है' अवतार लेता है, लीला करता है।** भगवान्‌को 'है'-रूपसे याद करो। उस 'है' में स्थित होकर 'चुप' हो जाओ, करना

कुछ है ही नहीं! (१२.९.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

हम 'है' का चिन्तन करते हैं—यह बात स्थिरताको नहीं रहने देती! हम चिन्तन करें या न करें, मानें या न मानें, याद रखें या भूल जायँ, 'है' तो है ही। भूल बुद्धिमें होती है। हम बीकानेरमें हैं—यह याद नहीं करना पड़ता। वह तो 'है', पर उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। इसलिये **उस 'है' का चिन्तन अथवा ध्यान नहीं करना है, प्रत्युत लक्ष्य करना है, केवल उधर दृष्टि डालनी है।** यह मकान है—इसका क्या ध्यान करते हैं? स्वयंका ध्यान न रहे तो 'मैं नहीं हूँ'—यह नहीं होता। गाढ़ नींदमें 'मैं हूँ'—यह याद नहीं रहता। याद न रहनेपर भी मैं तो था ही। ध्यान रहे या न रहे, सत्ता तो रहेगी ही। 'मैं' न रहे तो 'है' के रूपमें परमात्माका ही अनुभव है। 'है' स्वतःसिद्ध है। उसको याद रखना या न रखना बुद्धिका काम है।

ज्ञानी महात्माके द्वारा व्यवहारमें सावधानी रखना गलती है; क्योंकि संसारको सत्ता दे दी कि यह ठीक है, यह बेठीक है। संसारमें तो ठीक भी बेठीक है, बेठीक भी बेठीक है। इसलिये वह केवल लोकसंग्रहके लिये सावधानी रखता है, अपने लिये नहीं। (१४.९.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जो कहते हैं कि हमने बहुत भजन किया है, उनका भजन शुरू ही नहीं हुआ! जो कहते हैं कि हमें बहुत महात्मा मिले हैं, उनको वास्तवमें एक भी महात्मा नहीं मिला! (२८.९.१९८९, प्रातः ८.३०, जयनिवास उद्यान, जयपुर)

*** *** ***

संसारमें हमारा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। अतः घरमें रहते हुए व्यक्तिगत कुछ नहीं माने। वस्तुओंको व्यक्तिगत माननेसे अपनेमें अभिमान आता है और उन वस्तुओंकी जिम्मेवारी अपनेपर आती है। अभिमानसे पतन होगा और जिम्मेवारीसे चिन्ता, आफत होगी। अतः अपनी न मानकर प्रभुकी माने। (३०.९.१९८९, प्रातः ८.३०, जयनिवास उद्यान, जयपुर)

*** *** ***

भगवत्प्राप्ति होनेपर नामजपकी, भजनकी जरूरत नहीं रहनेपर भी नामजप आदि अपने-आप होते हैं, छूटते नहीं। भगवत्प्राप्त महापुरुष नामजप करते नहीं, प्रत्युत उनसे स्वाभाविक नामजप होता है; जैसे—श्वास स्वाभाविक चलते हैं, लेने नहीं पड़ते। सनकादिकोंमें स्वाभाविक ही भजन होता है, करना नहीं पड़ता। उस स्थितिको हम समझा नहीं सकते। वास्तवमें उस स्थितिका अभी पता नहीं लग सकता। अनुभव होनेपर ही पता लग सकता है।

गीता कण्ठस्थ करके फिर उसका उल्टा पाठ करो तो क्या होता है, करके देख लो!! इससे सुगम और क्या होगा? एक ही पाठमें मालूम हो जायगा कि क्या होता है!! भोजन करनेसे क्या होता है—यह भोजन करनेपर ही पता लगता है। (३.१०.१९८९, प्रातः ८.३०, जयपुर)

*** *** ***

पाठ, जप आदि करनेकी अपेक्षा किसीको भी 'मेरा' न मानना तेज है! अपना न माननेसे पुण्य नहीं होगा, प्रत्युत जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। इसीका नाम मुक्ति है।

दान करनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता, प्रत्युत त्यागसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। दानमें

क्रिया-पदार्थकी और त्यागमें विवेककी मुख्यता है। (१७.१०.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

कई बातें ऐसी हैं, जो सिद्धान्तसे सच्ची होते हुए भी साधकके कुछ कामकी नहीं हैं; जैसे—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि। हम सुख नहीं लेंगे तो संसारकी सत्-असत्की मान्यता अपने-आप मिट जायगी। संसार सत् है या असत् है—यह बाधक नहीं है, प्रत्युत स्वार्थबुद्धि बाधक है। चाहे स्वार्थका त्याग करो, चाहे अहम्का त्याग करो, परिणाम एक होगा।

संसार असत् है—यह बात सच्ची होते हुए भी साधकके कामकी नहीं है। सिनेमाको असत् माननेपर भी उसकी आसक्ति, रुचि नहीं मिटती; क्योंकि भीतर भोगबुद्धि पड़ी है। (१८.१०.१९८९, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जैसे सम्बन्धजन्य सुख छोड़ना है, ऐसे ही त्यागजन्य, प्रेमजन्य, ज्ञानजन्य सुख भी छोड़ना है। इनमें राजी नहीं होना है। राजी होना भोग है। किसी भी अवस्थामें राजी होनेसे व्यक्तित्व नहीं मिटता। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत राजी होना, चिपक जाना ही दोषी है।

संयोगजन्य सुखका त्याग करनेसे एक शान्ति मिलती है। शान्ति त्याज्य नहीं है, प्रत्युत शान्तिका भोग त्याज्य है। शान्तिका भोग न करनेसे आनन्द होता है। फिर 'है' में स्थितिका अनुभव हो जाता है। (१२.११.१९८९, प्रातः ५, वृन्दावन)

*** *** ***

बीमार आदमी चुपचाप भगवान्के चरणोंमें पड़ा रहे और 'हे नाथ! हे नाथ!' करता रहे तो उसको वही लाभ होता है, जो लाभ नामजप, भजन, कीर्तन आदि करनेसे स्वस्थ आदमीको होता है। भगवान्के यहाँ भावका महत्त्व है, क्रियाका नहीं। (१९.११.१९८९, प्रातः ९.३०, बिड़ला मातुश्री सभागार, बम्बई)

*** *** ***

हमारे सत्संगके लाभसे एक आदमी भी बच नहीं सकता! सत्संगमें जाना है—यह भाव होते ही लाभ होना शुरू हो गया! सुननेकी इच्छा करनेमात्रसे लाभ शुरू हो गया। एक बार 'राम' कहने और सुननेवाला भी लाभसे बच नहीं सकता! रात-दिन असत्, नाशवान्में लगे हुएको सत्, अविनाशी याद आ जाय—यह क्या कम लाभ है? असली लाभ वही है, जो दीखता नहीं।

जैसे आप ऊँचे-से-ऊँचे महात्मासे मिलनेकी इच्छा रखते हैं, ऐसे महात्मा इच्छा नहीं रखते। महात्मालोग ऊँचे महात्माओंका संग न चाहकर साधारण आदमियोंका संग चाहते हैं कि इनको लाभ हो जाय! महात्मा अन्नप्राशन-संस्कारकी तरह लोगोंको सत्संग चखाते हैं!!

हनुमान्जीको अपने बलका पता नहीं था। जाम्बवन्तने उनको बल याद कराया। यह सत्संग भी जाम्बवन्तके वचनकी तरह है, जो जागृति करा देता है! (२१.११.१९८९, प्रातः ९.३०, बम्बई)

*** *** ***

वास्तवमें धनके खर्चसे सुख होता है, संग्रहसे नहीं। संग्रहका सुख भी अभिमानसे होता है, धनसे नहीं। (२२.११.१९८९, प्रातः ९.३०, बम्बई)

*** *** ***

अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करना है—यही असली आत्मशुद्धि है। **आत्मचिन्तन करना ढोंग है! जो चिन्तनमें आता है, वह आत्मा नहीं और जो आत्मा है, वह चिन्तनमें आता नहीं।** आत्मा

अचिन्त्य है। चिन्तन आत्माका नहीं, संसारका होता है। मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ—यह भ्रम है। 'मैं कौन हूँ'—इसको जाननेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि इसमें बुद्धि (जड़ता) साथमें रहेगी। अतः 'यह मैं नहीं हूँ'—इसपर विचार करना है। यह मैं नहीं हूँ—ऐसा निषेध करनेसे तत्त्व पीछे बच जायगा—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। (२४.११.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

असली ध्यान है—'है'। होनापन, सत्तामात्र परमात्माका स्वरूप है। अतः किसीको न देखकर 'है' को देखो। 'है' को न देखकर 'नहीं' को देखनेसे ही बाधा लगती है।

सब जगह परमात्मा हैं—यह तीर्थोंका बाप है, फिर कहीं जानेकी क्या जरूरत है? (२५.११.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

निरपेक्ष तत्त्वमें आपकी स्थिति बिना साधनके स्वतःसिद्ध है। सुषुप्तिमें क्या साधन करना पड़ता है? (२७.११.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

वास्तवमें एक ही दुःखके दो नाम धरे हुए हैं—सुख (कारण) और दुःख (कार्य)। (२८.११.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

घरमें कोई दुष्ट, शराबी व्यक्ति हो तो उससे घुलो-मिलो मत। उसमें अपनी सम्मति मत करो। भगवान्‌को पुकारो। पति ऐसा हो तो उसकी सेवा करके उसको प्रसन्न करो। ऐसी सेवा करो कि वह आपकी बात मान ले। वह माने या न माने, अपनी कमी न रखे—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७)।

घरमें कोई व्यसनी हो तो मानो उसको छूतकी बीमारी हो गयी! अतः उसकी सेवा करो, पर सावधान रहो कि अपनेमें वह दोष न आ जाय।

भगवान्‌की मरजीसे 'होता' है, भगवान् 'करते' नहीं। गलती होती नहीं है, हम करते हैं। गलती कर ली तो वह होनेमें चली गयी। मनुष्यशरीर 'करने' के लिये है, शेष पशु-पक्षी आदि सब 'होने' के लिये है। **करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहो—यह बात हृदयमें लिख लो।** (२८.११.१९८९, प्रातः ९.३०, बम्बई)

*** *** ***

सत्संग और नामजपसे साधकका पोषण होता है, पुष्टि होती है। यह पुष्टिमार्ग है। इसके बिना साधक कृश हो जाता है! (२९.११.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

रास्तेमें चलते समय दूसरेको कहते हैं कि एक तरफ हट जाओ, तो ऐसा न कहकर खुद ही एक तरफसे होकर चला जाय। दूसरेकी स्वतन्त्रतामें बाधा न दे। तुम मेरा अमुक काम करो—यह कहना ठीक नहीं है। अच्छे सन्त कभी नहीं कहते कि तुम मेरा यह काम कर दो। **कुछ माँगना नहीं, जो मिले पा लेना**—यह शिक्षा बचपनमें मुझे एक साधुने दी तो मैंने भीतरसे पकड़ ली। (१.१२.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

जिसके हृदयमें त्याग है, जो त्यागके तत्त्वको जानता है, वह ऐसा नहीं कह सकता कि तू मेरा यह काम कर दे। कोई पूछे कि लोगे क्या? तो सभ्य आदमीको 'ना' ही कहना चाहिये। एक साधुकी अँगुलीमें पीड़ा हो गयी। किसीने कहा कि यहाँ अस्पताल है, जहाँ मुफ्तमें इलाज होता है। आप वहाँ जाकर पट्टी बँधवा लो। उस साधुने कहा कि अँगुलीकी पीड़ा तो मैं सह लूँगा, पर मैं किसीको पट्टी बाँधनेके लिये कहूँ—यह मैं नहीं सह सकता! ये बातें वही समझ सकते हैं, जिनके भीतर त्याग है, जिन्होंने सत्संग किया है। सत्संगकी बातें सत्संगी आदमी ही समझ सकता है। (१.१२.१९८९, प्रातः ९.३०, बम्बई)

*** *** ***

पितृभक्त पुत्रपर माताकी कृपा कम नहीं होती। ऐसे ही भगवान्‌के भक्तोंपर लक्ष्मीकी, प्रकृति माताकी बड़ी कृपा रहती है। भगवान्‌का भरोसा रखो तो कोई अभाव स्वप्नमें भी नहीं रहेगा।

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
नारायन पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

बच्चा पासमें कुछ नहीं रखता तो माँ उसका विशेष ध्यान रखती है। (३.१२.१९८९, प्रातः ९.३०, बम्बई)

*** *** ***

'स्व' को देखना तो बहुत सुगम है, पर 'स्व' को इदंतासे देखना चाहते हैं—यही बाधक है! वस्तुओंकी तरह 'स्व' को देखना सर्वथा असम्भव है। 'मैं' को छोड़नेपर 'है' रहेगा—यह 'स्व' में स्थिति है। 'स्व' में स्थिति स्वतः है। बदलनेवालेकी तरफसे दृष्टि हटायी कि स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है। (९.१२.१९८९, प्रातः ५, बम्बई)

*** *** ***

सृष्टि मनुष्यशरीरसे पैदा हुई है। यह मनुष्यशरीर ही सृष्टिका आरम्भ है; क्योंकि यहाँसे हम कहीं भी जा सकते हैं। (११.१२.१९८९, प्रातः ८.३०, कलकत्ता)

*** *** ***

जैसे जलको गरम करना पड़ता है, पर ठण्डा स्वतः होता है; क्योंकि उसकी प्रकृति ठण्डी है। ऐसे ही अवगुण धारण मत करो तो गुण स्वतःसिद्ध हैं। अवगुण आगन्तुक हैं। अवगुण धारण करनेसे ही हम गुणोंको परिश्रमसाध्य मान लेते हैं। (१३.१२.१९८९, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

जीव अनन्त हैं। जीवोंकी चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं, पर उनमें भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षसकी गणना नहीं है। स्वर्गादि लोकोंके जीवोंकी गणना नहीं है। चौदह लोकोंके प्राणियोंकी गणना नहीं है। केवल अधोगतिके जीवोंकी गणना की है। उन सबमें केवल मनुष्ययोनिको ही कर्मयोनि कहा है। अन्य योनियाँ मनुष्यजन्ममें किये पापोंका फल भोगनेके लिये हैं। ऊर्ध्वगति और अधोगति—दोनों भोगयोनि है। ब्रह्मलोकतक सब भोगयोनि है। विशेष बात यह है कि मनुष्य कर्मयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि है! **जिसके एक-एक रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड घूम रहे हैं, उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये यह मनुष्यशरीर है!!** (१३.१२.१९८९, प्रातः ८.३०, कलकत्ता)

*** *** ***

एक आनन्दघन परमात्मा आकाशकी तरह सब जगह स्वतः-स्वाभाविक परिपूर्ण है। पक्षीकी तरह पंख फैलाकर आकाशमें तैरता रहे, निरन्तर परमात्मामें ही रहे। केवल उस तरफ ख्याल करना है। (१६.१.१९९०,

प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

सांसारिक वस्तुको देखनेके लिये कर्ता और करण दोनोंकी जरूरत पड़ती है। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तापन और करणकी भी जरूरत नहीं है, केवल लक्ष्यकी जरूरत है। सगुणके दर्शन भी भगवान्‌की कृपासे होंगे। वहाँ भी आपके कारकोंका जोर नहीं चलेगा। वहाँ करण भी भगवान्‌का दिया हुआ है। (२.२.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

'**सर्वभूतहिते रताः**' का तात्पर्य अपने स्वार्थके त्यागमें है, सबका हित कर देनेमें नहीं।

मुझे मिल जाय—यह जड़ताको खींचना है। जड़ चीज तो नहीं रहेगी, पर उसका आकर्षण रह जायगा। करण-निरपेक्षका तात्पर्य जड़ताके त्यागमें है। परमात्माकी प्राप्ति जड़की अपेक्षा नहीं रखती, जड़के त्यागकी अपेक्षा रखती है।

पारमार्थिक कार्यसे कल्याण नहीं होता, निष्कामभावसे कल्याण होता है। (२४.४.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सरदी-गरमीका असर पड़नेपर भी क्या यह मानते हो कि मेरेमें सरदी है और मेरेमें गरमी है? ऐसे ही राग-द्वेषका असर पड़नेपर भी वे अपनेमें नहीं हैं—'**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २। १४) 'ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं'। आप तो रहते हो और ये आते-जाते हैं। इसलिये 'उनका असर पड़ता है'—इसको महत्त्व मत दो, प्रत्युत 'वे अपनेमें नहीं हैं'—इसको महत्त्व दो। जोर उनमें नहीं है, आपकी मान्यतामें है! आपकी मान्यताको ब्रह्माजी भी छुड़ा नहीं सकते! राग-द्वेषका असर पड़नेपर भले ही निषिद्ध क्रिया हो जाय, तब भी 'वे अपनेमें हैं'—यह मत मानो। वे अपनेमें नहीं हैं—यह अन्वेषण है, निर्माण नहीं है! निर्माणमें देरी लगती है, अन्वेषणमें देरी नहीं लगती। यह केवल पोथीकी बात नहीं है, आपके अनुभवकी बात है! राग-द्वेषको आप अपनेमें मान लें तो चौरासी लाख योनियाँ तथा नरक भोगनेपर भी वे नहीं मिटेंगे; क्योंकि आप तो मिटते नहीं, पर जो आपने अपनेमें मान लिया तो वह कैसे मिटेगा? आप परमात्माके नित्य अंश हो, इसलिये जिसको आप अपनेमें मानोगे, वह भी नित्य दीखने लग जायगा! जैसे, आगमें कुछ भी रख दो, काला कोयला भी रख दो तो वह भी चमकने लग जायगा!

नया काम समझनेमें, सीखनेमें देरी लगती है, पर जो पहलेसे ही है, उसका अनुभव करनेमें देरी नहीं लगती। आपने उल्टा अभ्यास किया है, इसलिये उनको मिटानेमें देरी लगती है, और देरी लगनी भी चाहिये; क्योंकि यह उल्टा माननेका दण्ड है!! (२८.४.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसार और शरीर एक ही तत्त्व है। अगर हम शरीरको संसारसे अलग मानते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि हम परमात्मासे अलग हैं। वास्तवमें शरीर संसारसे अलग हो सकता ही नहीं। तात्पर्य है कि शरीर संसारसे अलग नहीं है, पर आपने परमात्मासे अलग होकर शरीरको अपना मान लिया, इसलिये आपको शरीर संसारसे अलग दीखता है। अगर शरीर मेरा है तो संसारमात्र मेरा है। अगर संसार मेरा नहीं है तो शरीर भी मेरा नहीं है। अगर संसारमात्रके शरीरोंके दुःखकी चिन्ता नहीं होती तो इस शरीरके दुःखकी भी चिन्ता नहीं होनी चाहिये। अगर संसार अपना नहीं तो फिर संसारका एक टुकड़ा अपना कैसे हो गया? शरीर अज्ञानसे अपना दीखता है। मूलमें आपको यह बात समझनी है कि नित्य आत्माकी नित्य परमात्माके साथ

एकता है और अनित्य शरीरकी अनित्य संसारके साथ एकता है। (८.५.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'मैं' में 'हूँ' का वियोग नहीं होता, पर 'है' में 'हूँ' का वियोग हो जाता है। 'है' ही परमात्माका स्वरूप है। (१८.५.१९९०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह कहनेका तात्पर्य है कि मैं और किसीका नहीं हूँ। 'भगवान् मेरे हैं'—यह कहनेका तात्पर्य है कि और कोई मेरा नहीं है। कारण कि अगर मैं किसीका नहीं होता और कोई मेरा नहीं होता तो 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। अतः संसारका सम्बन्ध न माननेका तात्पर्य है, भगवान्‌का सम्बन्ध जोड़नेमें तात्पर्य नहीं है।

श्रोता—भगवान्‌की इच्छाको कैसे पहचानें?

स्वामीजी—पहचाननेकी जरूरत नहीं है, तुम अपनी इच्छा छोड़ दो। भगवान्‌की इच्छा यही है कि तुम इच्छा मत करो। जो होता है, वह भगवान्‌की इच्छासे ही होता है—***'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'*** (मानस, बाल० १२८। १)। (२१.५.१९९०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्तिमें वैराग्यकी अत्यन्त आवश्यकता है। दुःख और विचारसे वैराग्य होता है। वैराग्यकी रुचि हो तो वैराग्यवान्‌के संगसे भी वैराग्य हो जाता है। भीतरमें अंकुर होना चाहिये, तभी पौधा पनपता है। (२९.५.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मनुष्य अपने पुरुषार्थसे प्रारब्धको, विधानको बदल सकता है! भगवान्‌ने मनुष्यको बहुत शक्ति दी है। परंतु राग-द्वेष अधिक होनेसे वह शक्ति ढक जाती है। मनुष्य-जितना अधिकार किसीमें भी नहीं है, आजान देवताओंमें भी नहीं!

भक्त भगवान्‌के विधानको नहीं बदलता, प्रत्युत भगवान् ही अपने विधानको बदल देते हैं! भक्त अपनी बात छोड़ देता है तो भगवान् भी अपनी बात छोड़ देते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। (३०.५.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

निषेधात्मक साधन करनेसे विध्यात्मक साधन अपने-आप होता है। चोरी, व्यभिचार आदि न करना निषेधात्मक है। निषेधात्मक साधन करणनिरपेक्ष होता है। करण केवल क्रिया करने (निर्माण)-में ही काम आते हैं, न करनेमें नहीं। न करनेमें करणकी क्या जरूरत है? अगर मनुष्य इस बातको समझ ले तो सैकड़ों वर्षोंकी बात मिनटोंमें हो जाय!!

निषेधात्मक करनेसे विध्यात्मक बाकी नहीं रहता, पर विध्यात्मक करनेसे निषेधात्मक बाकी रहता है।

ऊँचे दर्जेके साधन करणनिरपेक्ष ही होते हैं। करणसापेक्ष साधन पराधीनतासे होते हैं।

परमात्मातक विध्यात्मक साधन पहुँचता ही नहीं, निषेधात्मक साधन ही पहुँचता है। (१.६.१९९०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी बड़ी विलक्षण, विचित्र है! बोलनेमें श्रीकृष्ण बड़े चतुर हैं! उन्होंने गीता बड़ी चतुराईसे कही है! भागवत आदि ग्रन्थोंको सुनते समय पता लग जाता है कि यह वाणी श्रीकृष्णकी है! इनकी वाणी भी विचित्र है और खेल भी विचित्र हैं! (५.६.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

सब शक्ति निष्क्रियतामें भरी हुई है। क्रिया और पदार्थ शक्तिका नाश करनेवाले, पतन करनेवाले हैं। (८.६.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'नहीं' का सुख लेनेवालेको 'है' का आनन्द नहीं मिलता। संयोगजन्यसुख न लो तो शीतज्वरकी तरह भीतरसे आनन्द उठेगा! फिर दुःख आयेगा ही नहीं! (१७.६.१९९०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

कोई गलती हो जाय तो उसका पश्चात्ताप करनेमें जोर न लगाकर 'वैसी गलती हम दुबारा नहीं करेंगे'—इसपर जोर लगाओ। (१८.६.१९९०, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

नाशवान्‌की माँग भीतर मत रखो तो सच्ची प्रार्थना निकलेगी। (२२.६.१९९०, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

गुरु एक तत्त्व है, जो नित्य होता है। शरीरका नाम गुरु नहीं है। गुरुतत्त्व साक्षात् परमात्मतत्त्व है। हमें जहाँ-कहीं जो कुछ मिलता है, वह उस गुरु-तत्त्वसे ही मिलता है। वह तत्त्व सब जगह मौजूद है। उसीका नाम 'है' है, जिसके कारण यह नाशवान् संसार 'है' दीखता है। गुरु-तत्त्व कहो या भगवतत्त्व कहो, कोई फर्क नहीं है। **जब सच्चा शिष्य मिलता है, तब सन्त-महात्माओंके हृदयमें गुरु-तत्त्व प्रकट हो जाता है।** (७.७.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

वस्तुएँ मरनेके बाद काम नहीं आयेंगी, पर सत्संगकी बातें मरनेके बाद भी काम आयेंगी। (८.७.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

असत् मन-बुद्धिके द्वारा सत्‌को पकड़कर चलेंगे तो असत्‌का संग छूटेगा नहीं, सत्‌की प्राप्ति होगी नहीं! सत्‌के चिन्तनसे सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, सत्कर्मसे सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, सच्चर्चासे सत्‌की प्राप्ति नहीं होती। सत्‌की लगनसे सत्‌की प्राप्ति होती है। असत्‌के त्यागसे सत्‌की प्राप्ति होती है। (१०.७.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

भक्त तो भगवान्‌की भी भूख मिटाते हैं! उन भक्तोंको आपसे क्या मिलेगा? भक्त भगवान्‌से भी कुछ चाहते नहीं। वे तो भगवान्‌को भी देनेवाले हैं! उनको हम क्या निहाल करेंगे? उनकी हम क्या सेवा करेंगे? (१२.७.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

एक मार्मिक बात है कि आने-जानेवाले आपमें नहीं आते, मन, बुद्धि, शरीर, अन्तःकरणमें आते हैं! आप आने-जानेवाले नहीं हो। आप आने-जानेवालेमें स्थित न होकर अपनेमें स्थित रहो। **आने-जानेवालेका असर न पड़े—इसीका नाम जीवन्मुक्ति है।** (२३.७.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

किसीकी भी सेवा करो, किसीको सुख पहुँचाओ या दुःख पहुँचाओ, उसका नतीजा आपपर ही आयेगा।

भगवान्‌का चिन्तन करनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है। बुद्धि शुद्ध होनेसे बढ़िया बातें पैदा होती हैं। (२५.७.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

काम-क्रोधादि सब दोष आते-जाते हैं और मैं रहनेवाला हूँ। उनके आने-जानेको हम जानते हैं। भले ही हम उनमें बह जायँ, पर यह सावधानी रखें कि मैं तो वही हूँ, वे मेरेमें नहीं हैं। बह गये तो फिर पीछे आ जाओ। ऊँटपर चढ़ते हैं तो पहले बार-बार गिरते हैं, पर गिरते-गिरते फिर पक्के हो जाते हैं, फिर नहीं गिरते। (२६.७.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

द्वैत, अद्वैत आदि भेद (मत) शास्त्रके हैं। बोध होनेपर भेद नहीं रहता। द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि वाद हैं। बोध होनेपर वाद नहीं रहता। यह द्वैत-अद्वैत महामोह है—**'द्वैताद्वैतमहामोहः'** (माहेश्वरतन्त्र)। संसारका मोह दूर हो जाता है; क्योंकि उसको मोह समझते तो हैं, पर महामोह जल्दी दूर नहीं होता! कारण कि द्वैतवादीको यह नहीं लगता कि द्वैतवाद मोह है। (२३.८.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

संसार तथा 'मैं' एक हो गया और 'हूँ' तथा 'है' एक हो गया—यह पूर्ण ज्ञान है। अन्तमें यहीं ठहरेंगे। संसारके अन्तर्गत 'है' को मानना गलती है। 'है' के अन्तर्गत संसार है। संसार तारा है और 'है' आकाश है। **हम हरदम 'है' में ही रहते हैं।** (२५.८.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

अहंताको शुद्ध करने तथा मिटानेकी अपेक्षा बदलना सुगम पड़ता है। कारण कि बदलना आपको आता है। आपका बदलनेका अभ्यास है, शुद्ध करने तथा मिटानेका अभ्यास नहीं है। खास बदलना है—मैं भगवान्‌का हूँ। (२६.८.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

पुण्य कहनेसे पुण्य नष्ट होते हैं; क्योंकि कहनेसे सुख मिलता है। सुख लेनेसे पुण्य खर्च हो जाता है। मान-बड़ाईसे मिलनेवाला सुख पुण्योंका नाश करता है। (२७.८.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

'है' रूपसे परमात्मा ही है। संसार 'है' में होनेसे 'है' की झलक संसारमें आ जाती है। **उस 'है' की तरफ ध्यान देना ही असली साधकपना है।** 'है' रूपसे परमात्मा ही प्राप्त होते हैं, चाहे जानें या न जानें। मौजूद नाम परमात्माका ही है। संसार मौजूद नहीं है। (२९.८.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

क्रियासे ही संसार जीता है। क्रिया बन्द कर दो तो संसार नष्ट हो जायगा, एक परमात्मतत्त्व रह जायगा।

(२९.८.१९९०, प्रातः ८.३०, बीकानेर)

*** *** ***

जो सब जगह परमात्माको परिपूर्ण मान लेता है, उसको जनानेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर आ जाती है। भगवान् स्वयं जनाते हैं, छिप नहीं सकते! (३०.८.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

इदम् कभी अहम् नहीं हो सकता तो फिर इदम् शरीरके बीमार होनेपर मैं बीमार कैसे हो गया? धन इदम् है तो फिर मैं धनवान् कैसे हुआ? (२३.९.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

भविष्यके लिये संग्रहकी इच्छा होती है तो उस समयका प्रबन्ध उसी समय हो जायगा—भगवान्‌के विधानसे! कलके लिये भोजन कल बन जायगा, क्या कलके लिये आज भोजन बनाते हैं? अचानक व्यवस्था हो जाती है। जिसकी सम्भावना नहीं, वह चीज आ जाती है!

धान नहीं धीणों नहीं, नहीं रुपैयो रोक।
जीमण बैठे रामजी, आन मिलै सब थोक॥

'नहीं' में 'है' माननेसे 'नहीं' की मुख्यता रहती है। अतः 'है' के अन्तर्गत 'नहीं' माने। (३.१०.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

भजन करना और सेवा करना क्रिया नहीं है, भाव है। यद्यपि स्वयं भाव और क्रियासे अतीत है, तथापि भाव उसके नजदीक पड़ता है। (८.१०.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

परमात्मा 'है' और यह 'नहीं' है—ये दो ही बातें हैं। दोनोंमें कोई एक बात मान लो और उसपर पक्के रहो। निषिद्ध कर्म होनेपर भी 'परमात्मा है और यह नहीं है'—इसमें क्या फर्क पड़ा? यह बात तो ज्यों-की-त्यों रहेगी। अतः आप इस तरफ दृष्टि रखो। 'नहीं' को लेकर 'है' का निषेध मत करो। 'है' को जितनी दृढ़तासे मानोगे, उतनी गुलामी मिटेगी। महत्त्व 'है' को दो। 'नहीं' को महत्त्व मत दो। 'है' की तरफ ख्याल नहीं किया—इतनी ही बात है, 'है' का अभाव थोड़े-ही हुआ है!

जो रहता है, उसकी तरफ दृष्टि रखो। जो आता-जाता है, उसको मत देखो। उसकी परवाह मत करो। कामना, आसक्ति आदि जो हो जाय, 'है' तो रहेगा ही और 'नहीं' टिकेगा नहीं। (२३.११.१९९०, प्रातः ५, गोबिन्द भवन, कलकत्ता)

*** *** ***

भगवान् तो पिता हैं, पर सन्त-महात्मा माँ हैं। माँका हृदय अधिक कोमल होता है। भगवान्‌में प्यार और मार दोनों हैं, पर सन्तोंमें केवल प्यार है।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

(मानस, सुन्दर० ४१। ४)

अगर सन्त ताड़ना भी करें तो उसमें उनकी विशेष कृपा है। भगवान् और भक्तके द्वारा कभी नुकसान नहीं होता, सदा भला ही होता है।

दु:खी आदमी ही दूसरोंको दु:ख देता है, सुखी आदमी दु:ख नहीं देता। सन्त और भगवान् सदा सुखी हैं, उनके पास दु:ख है ही नहीं, फिर दें कहाँसे? (२५.११.१९९०, प्रात: ८, कलकत्ता)

*** *** ***

जिस ज्ञानसे स्वभाव बिगड़ा हुआ दीखता है, उसी ज्ञानमें स्वभावको सुधारनेकी शक्ति है। जिसमें देखनेकी शक्ति है, उसमें मिटानेकी शक्ति भी मौजूद है। बिगाड़ दीखनेवालेमें है, देखनेवालेमें नहीं। जो दीखनेवाला है, वह अपना नहीं है, अपने साथ रहनेवाला नहीं है। उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध देखनेवालेके साथ है। दीखनेवालेके सम्बन्धसे देखना बनता है। दीखनेवालेको ठीक तरहसे देखो तो वह मिट जायगा। जैसे, किसी मकानमें बहुत गहरा अँधेरा हो और उसको दीपकसे देखो तो क्या वह अँधेरा रहेगा?

दीखनेवालेकी सत्ता होनेसे ही देखनेवाला है। वास्तवमें दीखनेवालेकी सत्ता है ही नहीं, फिर देखे कौन? वास्तवमें जो सबका ज्ञाता, प्रकाशक, आधार और आश्रय है, उसमें दीखनेवाला और देखनेवाला दोनों ही नहीं हैं।

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस, उत्तर० ४१)

'हे तात! सुनो, मायासे रचे हुए ही अनेक गुण और दोष हैं। गुण इसीमें है कि दोनों ही न देखे जायँ। इन्हें देखना ही अविवेक है।'

'**गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित:**' (श्रीमद्भा० ११। १९। ४५) 'गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना (उनसे अपना सम्बन्ध मानना) ही सबसे बड़ा दोष है, और उनपर दृष्टि न जाकर अपने (निर्विकार) स्वरूपमें स्थित रहना ही सबसे बड़ा गुण है।'

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुन: कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं; अत: वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?' (२२.१.१९९१, प्रात: ५, बीकानेर)

*** *** ***

लौकिक कार्यमें तो दूसरा बाधा लगा सकता है, पर परमात्माकी तरफ चलनेमें बाधा लगानेवाला भी हमारी सहायता ही करेगा! उसकी नीयत तो बाधा लगानेकी है, पर हमारी सहायता हो जायगी, हमें लाभ हो जायगा!! आपसे वैर रखनेवाले भी वास्तवमें आपकी सहायता करेंगे!

कुसंग स्वीकार करनेसे कुसंगसे हानि होती है, अन्यथा कुसंगसे हानि नहीं होती, उल्टे साधनमें तेजी आती है! हम ढीले होते हैं, स्वीकार करते हैं, तभी कुसंग हानि करता है। (२७.१.१९९१, प्रात: ५, बीकानेर)

*** *** ***

आप भोगके आरम्भकालको पकड़ते हैं, तभी भोग चाहते हैं। भोगके अन्तकालको पकड़ो तो भोगेच्छा छूट जायगी।

सभी संयोग वियोगमें बदलेंगे, इसलिये वियोगको पहले ही मान लो। (७.२.१९९१, सायं ३.१५, श्रीराम जिवाई सत्संग भवन, वृन्दावन)

*** *** ***

अगर संसारमें न राग हो, न द्वेष हो तो 'संसार नहीं है, परमात्मा है'—यह सुनते ही ज्ञान हो जायगा। जहाँ राग होता है, वहाँ दोष नहीं दीखते और जहाँ द्वेष होता है, वहाँ गुण नहीं दीखते। अतः राग-द्वेष होनेसे वास्तविक ज्ञान नहीं होता। जैसे, यमुनाजीमें राग-द्वेष नहीं हैं तो 'यह यमुनाजी हैं'—ऐसा सुनते ही उसका ज्ञान हो जाता है। परंतु परमात्मा यमुनाजीकी तरह नहीं है। संसारकी प्राप्तिकी तरह परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

सम हुए बिना समरूप परमात्माको कैसे पकड़ सकोगे? जब आप सम होंगे, तब वह कृपापूर्वक पकड़में आ जायगा। (१२.२.१९९१, प्रातः ५, रामधाम, वृन्दावन)

*** *** ***

श्रोता—सांसारिक सम्बन्धकी मान्यता तो जल्दी पकड़ी जाती है, पर पारमार्थिक सम्बन्धकी मान्यता जल्दी नहीं पकड़ी जाती। इसमें क्या कारण है?

स्वामीजी—कारण यह है कि आपने शरीरको मैं-मेरा मान रखा है, इसलिये शरीर-सम्बन्धी मान्यताएँ (मेरे अमुक माता-पिता हैं आदि) जल्दी पकड़में आ जाती हैं। अगर यह बात अनुभवमें आ जाय कि शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ, शरीर मेरेसे अलग है, मैं शरीरसे अलग हूँ तो पारमार्थिक मान्यता (मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं) जल्दी पकड़में आ जायगी। संसारसे आपने पहलेसे सम्बन्ध मान रखा है, इसलिये उसी जातिकी बात जल्दी पकड़ी जाती है। अगर शरीरसे अलगावका पहलेसे अनुभव हो तो परमात्माकी बात बहुत जल्दी पकड़ी जायगी। (१६.२.१९९१, प्रातः ५, वृन्दावन)

*** *** ***

दोष आते-जाते हैं, पर आप आते-जाते नहीं हैं, रहते हैं। न आप काम-क्रोधके साथी हैं, न काम-क्रोध आपके साथी हैं। फिर ये क्यों आते-जाते हैं? यह ज्ञान करानेके लिये कि ये आपमें नहीं हैं। (२०.२.१९९१, प्रातः ५, वृन्दावन)

*** *** ***

अपनेको सिद्ध मानना बड़े खतरेकी बात है! सिद्ध कभी माने ही नहीं। जैसे, मैं गंगाजी पहुँच गया—यह कभी माने ही नहीं, प्रत्युत गंगाजीमें चलता ही चला जाय कि चलते-चलते गंगाजीमें डूब जाय, अपना अहम् रहे ही नहीं!

अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है तो यह बड़े खतरेकी चीज है! चोरीका अभिमान तो दूर हो सकता है, पर साहूकारीका अभिमान दूर नहीं हो सकता। कारण कि चोरीकी सब लोग निन्दा करते हैं, पर साहूकारीकी सब प्रशंसा करते हैं। (२२.३.१९९१, रात्रि ९.१०, सींथल)

*** *** ***

सन्तवाणीका पूजन करना ही चाहिये। सन्तवाणीका पूजन सन्तोंका पूजन है, भगवान्‌का पूजन है, भगवान्‌के भावोंका पूजन है। इससे बड़ा लाभ होता है। (१.४.१९९१, प्रातः ९, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

आजकलके समय वानप्रस्थ लेना सम्भव नहीं है। वानप्रस्थमें हलसे पैदा होनेवाली चीज नहीं खायी जाती, और अन्य चीज (फल, कंद-मूल आदि) आजकल जंगलमें मिलती नहीं। अत: घरपर रहे और भीतरसे ठीक रहे। (४.४.१९९१, प्रात: ५, दिल्ली)

*** *** ***

धीरे-धीरे संसारका काम होता है। परमात्माकी प्राप्ति धीरे-धीरे नहीं होती। होती है तो चट होती है, नहीं तो नहीं होती। (१४.४.१९९१, प्रात: ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अहम् एकदेशीय है, तत्त्व सर्वदेशीय है। आकाशमें चन्द्रमा अथवा तारेके समान स्वयंमें एक जगह अहम् है।

जो वृत्ति पैदा होती है, वह नष्ट होनेके लिये होती है—यह सिद्धान्त है। उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होती ही है। यह साधकके लिये बहुत ही श्रेष्ठ, उत्तम बात है।

'है' में सबकी स्थिति स्वत: है। उस स्थितिको पहचानना है। पहचाननेका तात्पर्य है—कुछ न करना, चुप हो जाना। इससे क्या होगा—इसको मत देखो। कुछ होगा तो तुच्छ ही होगा। कुछ नहीं होगा तो सब कुछ होगा। (१६.४.१९९१, प्रात: ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

पारमार्थिक विषयमें सन्तोष करनेसे धोखा होता है, उन्नति रुक जाती है। इसलिये पारमार्थिक उन्नतिमें कभी सन्तोष न करे। तबतक चलता रहे, जबतक खो न जाय। अहम् रहे ही नहीं। जबतक अपने व्यक्तित्वका भान हो, तबतक चलता रहे।

पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार फल होता है, क्रिया नहीं होती। अभी हम जो कर्म करते हैं, उसका फल अभी नहीं होगा। अत: अभी जो फल मिल रहा है, वह अभीके कर्मका, अभीके झूट-कपटका फल नहीं है। यह बड़ी मार्मिक बात है, जिसकी तरफ सहसा दृष्टि नहीं जाती! (२४.४.१९९१, प्रात: ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अगर चोरी करनेसे धन मिलता हो तो चोरी करनेवाले सब-के-सब धनी हो जाते। धन आना चोरीका फल नहीं है। चोरीका फल तो आगे मिलेगा! वास्तवमें धन आया है प्रारब्धसे। धन चोरीसे मिला हुआ दीखता है, तभी चोरीमें प्रवृत्ति होती है। अगर ऐसा न दीखे तो चोरी कौन करता? अगर प्रत्यक्ष सुख न दीखे तो पाप कौन करता? पर उसका नतीजा ठीक नहीं होगा।

धनके आनेमें और उसका संग्रह करनेमें सुख नहीं है। दोनों अलग-अलग हैं। सुख धनका उपभोग (खर्चा) करनेमें है। संग्रहसे अभिमानजन्य सुख होता है। (२४.४.१९९१, प्रात: ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आजकल वेदान्त भी तोतेकी तरह सीखते हैं! सीखना (पढ़ाई करना) और अनुभव करना—दोनों अलग-अलग हैं। केवल वेदान्त सीख लेनेसे लाभ नहीं होगा, उल्टे नुकसान होगा, अनुभवमें बाधा लगेगी। सीखनेसे जिज्ञासा मर जाती है। वहम हो जाता है कि मैं जानता हूँ। 'मैं जानता हूँ'—ऐसा भाव होनेसे वह दूसरेकी बात नहीं सुनेगा।

वेदान्तके ग्रन्थ प्राय: पुस्तकोंके पण्डितोंके लिखे हुए हैं, अनुभवीके लिखे हुए नहीं। जैसे, 'विचारसागर'

के रचयिता अनुभवी थे ही नहीं। बिल्कुल पक्की बात है! वह पण्डिताईके जोरसे लिखी हुई पुस्तक है। उसको पढ़नेवालेको बोध कैसे हो जायगा? आदि शंकराचार्यजीके ग्रन्थोंमें अनुभवकी बात है। परंतु उनके आधारपर लिखे हुए ग्रन्थोंमें अनुभवकी बात नहीं है। अनुभवकी भाषा ही और तरहकी होती है, जिसको पढ़ते ही फर्क मालूम पड़ जाता है। सीखी हुई बातमें भूल होती है, पर अनुभवकी बातमें भूल नहीं होती—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४।३५)। (२५.४.१९९१, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जब आपकी सत्ता 'मैं हूँ' भी किसी करणसे नहीं है तो क्या ब्रह्म आपसे भी कमजोर है कि उसके लिये करणकी जरूरत पड़े? (६.५.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

संसारका सुख लेना व्यभिचार है; क्योंकि स्वयं अविनाशी है, पर सुख लेता है नाशवान्‌से! (९.५.१९९१, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

भूमिका ज्ञानकी नहीं, प्रकृतिकी होती है। प्रकृतिको लेकर भूमिका है, स्वरूपको लेकर भूमिका नहीं है। (२५.५.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जो अपनेको किसी साधनके योग्य नहीं मानता, वह शरणागतिका अधिकारी होता है। जब वह अपनी शक्तिसे कुछ कर नहीं सकता और परमात्माके बिना रह सकता नहीं, तब वह शरण होता है। जब वह संसारसे निराश हो जाता है और परमात्माकी आशा छूटती नहीं, तब जैसे नींद आती है अथवा जैसे भय लगनेपर बच्चा माँकी गोदीमें चला जाता है, वैसे स्वाभाविक ही भगवान्‌के शरण हो जाता है। जबतक अपनेमें करनेका अभिमान रहता है, तबतक वह शरण नहीं हो सकता। (२६.५.१९९१, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

गीताका अध्ययन करनेवाला प्रत्येक विषयकी शंका, उलझनको दूर कर सकता है, सब बातोंका निर्णय कर सकता है। गीतासे सर्वतोमुखी विकास होता है। गीताकी बड़ी अलौकिक विलक्षणता है! गीता खुद कृपा करती है। **मैं तो गीता माताके दूधसे ही पला, पुष्ट हुआ हूँ!** (२७.५.१९९१, प्रातः ५, गीताभवन)

*** *** ***

काली और काला (कृष्ण) एक ही हैं। अनन्त, अपार, असीमका नाम 'काला' है। जहाँसे दृष्टि लौट आये, बुद्धि लौट आये, वह 'काला' है। (५.६.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

दुष्टोंसे लेकर महात्मा तथा भगवान्‌तक यही चाहते हैं कि दूसरे मेरा कहना मानें। परंतु फर्क यह है कि भक्त और भगवान् दूसरेके हितके लिये चाहते हैं कि मेरी बात मानें। दूसरे लोग अपने हित (स्वार्थ)-के लिये चाहते हैं कि मेरी बात मानें। (६.६.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

श्रोता—विश्वासका स्वरूप क्या है?

स्वामीजी—जिनपर विश्वास हो, वे कहें कि यह मकान सोनेका है तो वह सोनेका ही दीखने लग

जाय! वे कहें कि सब वासुदेव है—'**वासुदेवः सर्वम्**' तो सब वासुदेव ही दीखने लग जाय!

श्रोता—ऐसा विश्वास कैसे हो?

स्वामीजी—संसारका, नाशवान्‌का विश्वास छोड़नेसे। (९.६.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

हम इन्द्रियोंके ज्ञानको महत्त्व देते हैं, इसलिये कहते हैं कि परमात्मा दीखता नहीं! यह इन्द्रियोंके ज्ञानपर विश्वास है। (११.६.१९९१, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

ममतावाली चीज बेकार हो जाती है, उसको सन्तलोग काममें नहीं लेते। (१४.६.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आज्ञापालन करनेसे जो गुण पतिमें नहीं है, वह स्त्रीमें आ जायगा। जो गुण राजामें नहीं है, वह प्रजामें आ जायगा। जो गुण गुरुमें नहीं है, वह शिष्यमें आ जायगा। जो गुण मालिकमें नहीं है, वह नौकरमें आ जायगा। कारण कि आज्ञपालन करना भगवान्‌की आज्ञा है। (१.७.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

माला फेरना भी एक कर्म है, पर भगवान्‌के लिये होनेसे वह उपासना हो जाती है। ऐसे ही रसोई बनाना, युद्ध करना आदि कोई भी कर्म भगवान्‌के लिये किया जाय तो वह उपासना हो जायगी। (२४.७.१९९१, सायं ५, सुल्तान हाउस, जयपुर)

*** *** ***

व्यवहार अहम्‌से ही होता है। इसलिये सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहनेसे व्यवहार नहीं होता। आपकी स्थिति स्वयंमें है। केवल अहम्‌में स्थितिको छोड़ना है। (२५.७.१९९१, प्रातः ५, सुल्तान हाउस, जयपुर)

*** *** ***

हम बुराई करना चाहते हैं, बुराई करते हैं, तभी दूसरा बुराई करनेके लिये हमें विवश कर सकता है। यह मार्मिक बात है। (२८.७.१९९१, प्रातः ५, जयपुर)

*** *** ***

हमारेमें बुरा भाव रहता है, तभी दूसरेके बुरे व्यवहारका हमारेपर असर पड़ता है। हमारा अन्तःकरण जितना शुद्ध होगा, उतना दूसरेके बुरे व्यवहार असर नहीं पड़ेगा, केवल ज्ञान होगा। मूलमें दोष हमारा है। पैसोंकी बात लोभीपर ज्यादा असर करती है। जिसके भीतर कुभाव होता है, उसीपर कुसंगका असर पड़ता है। मैला अन्तःकरण मैली चीजको ही पकड़ता है। सजातीयताका असर पड़ता है। जिसमें आसक्ति है, उसीकी छाप भीतर पड़ती है; जैसे—स्त्रीमें आसक्ति है तो स्त्रीका कोई अंग दीखते ही चट उसकी छाप भीतर पड़ जाती है। (३०.७.१९९१, सायं ४.४५, जयपुर)

*** *** ***

भोगोंकी इच्छावाला किसी भी पापसे बच नहीं सकता। सुखकी इच्छा है तो पाप करना न चाहते हुए भी पाप होगा, भलाईका काम करनेपर भी उसमें बुराई आयेगी। (१.८.१९९१, प्रातः ८.३०, जयपुर)

*** *** ***

गुरुकी भक्ति, गुरुकी शिक्षा और गुरुकी दीक्षा यही है कि अपने-आपको बदल दें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। यही सत्संग है। यही अहंताका परिवर्तन है। (६.८.१९९१, प्रातः ५, जयपुर)

*** *** ***

भोग और संग्रहकी इच्छाके बिना कोई पाप नहीं होता। इनकी इच्छाने ही आपको पाप करना सिखाया है। (७.८.१९९१, सायं ४.४५, जयपुर)

*** *** ***

गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यह शास्त्रोंके अधीन नहीं है। अतः बिना शास्त्र पढ़े सीधे गीता पढ़ सकते हैं। शास्त्रोंकी शैली, प्रक्रिया दूसरी है, गीताकी प्रक्रिया दूसरी है। पहले अन्य ग्रन्थोंको पढ़ें, फिर गीता समझमें आ जायगी—यह बात नहीं है। शास्त्रोंकी प्रक्रिया पढ़कर गीता पढ़ोगे तो हलचल मचेगी, गीता समझमें आयेगी नहीं! (२१.८.१९९१, प्रातः ८.३०, जयपुर)

*** *** ***

भगवान्‌के पास बल है तो उससे भी बढ़िया चीज हमारे पास निर्बलता है!! ***'निरबल के बल राम'***। निर्बलता भगवान्‌के पास नहीं है! बालकके पास रोनेका बल है—**'बालानां रोदनं बलम्'** (ब्रह्मवैवर्त० गणपति० ३५। ८९); अतः रोना निर्बलताकी पहचान है।

तपस्यासे शुद्धि होती है; जैसे—जिस बर्तनको शुद्ध करना हो, उसको तपाते हैं। परंतु तपस्याके बलपर परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। तपस्या करके जब हार जाता है, तब प्राप्ति होती है। तपस्या उस बलको खर्च करने, जलानेके लिये है, जो बल परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है। (२२.८.१९९१, प्रातः ५, जयपुर)

*** *** ***

जो चीज उत्पन्न और नष्ट होती है, वह मेरेमें नहीं है—इस बातको पक्का पकड़ लो। (जैसे, प्रकाशमें हाथ हिलाते हैं तो हाथ हिलता है, प्रकाश नहीं।) (२५.८.१९९१, सायं ४.४५, जयपुर)

*** *** ***

जैसे सरोवरमें जहाँ देखो, वहीं चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब है, ऐसे ही जहाँ देखो, वहीं भगवान्‌का साकार रूप है। आप जहाँ देखना चाहोगे, वहीं दिख जायगा। भगवान्‌का साकार रूप सब जगह था, तभी तो भगवान् गोपियोंके सामने वनमें प्रकट हो गये, प्रह्लादके सामने खम्भेमेंसे प्रकट हो गये! भगवान् सब जगह हैं, केवल आपकी धारणामें नहीं हैं। आपकी धारणामें संसार है! (२.९.१९९१, प्रातः ५, जयपुर)

*** *** ***

परमात्माके मिलनेपर न तो वे हरदम दीखते हैं, न उनसे अलगाव ही होता है। (१८.९.१९९१, सायं ४.४५, जयपुर)

*** *** ***

नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र—ये तीन हैं। नीतिमें कूटनीति भी आती है। धर्मशास्त्रकी मुख्यता होनेसे नीति गौण हो जाती है। धर्मशास्त्रमें झूठ, कपट आदि अकर्तव्य नहीं होते, प्रत्युत कर्तव्यका पालन होता है। कर्तव्यकर्म सकाम भी होते हैं और निष्काम भी। **धर्मशास्त्रमें निष्कामभाव आते ही मोक्षशास्त्र आ जायगा, धर्मशास्त्र नहीं रहेगा।** क्रिया तो धर्मकी रहेगी, पर वह मोक्षशास्त्र होगा। परंतु सकामभाव आनेसे धर्मशास्त्र होगा, मोक्षशास्त्र नहीं होगा। इसी तरह **सकामभावसे किये जप, ध्यान आदि मोक्षशास्त्रकी क्रिया भी धर्मशास्त्रमें आ जायगी।**

क्रियामात्रकी शुद्धिसे कुछ नहीं होगा, भाव शुद्ध (निष्काम) होना चाहिये। (१२.१०.१९९१, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

(मानस, बाल० १२४ क)

'महादेवजीने हँसकर कहा—न कोई ज्ञानी है, न मूर्ख। श्रीरघुनाथजी जब जिसको जैसा करते हैं, वह उसी क्षण वैसा ही हो जाता है।'

—ये वचन शरणागत भक्तके लिये हैं। शरणागत अपनी ओरसे कुछ नहीं करता। उसका अहम् मिट जाता है। वह भगवान्‌के हाथका खिलौना होता है। (१२.१०.१९९१, सायं ४.१५, बीकानेर)

*** *** ***

बदलनेवाले संसारमें 'है'-पना नहीं है। संसार 'नहीं' रूपसे है और परमात्मा 'है' रूपसे है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। उस 'है' की तरफ वृत्ति रखते हुए नामजप करो। 'राम-राम-राम' जपमें शब्द बदलते हैं, पर 'है' नहीं बदलता। इस तरह नामजप करनेसे बहुत विशेष लाभ होगा, विवेक जाग्रत् होकर बोध हो जायगा! (१४.१०.१९९१, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

अनित्यमें नित्यबुद्धि, अपवित्रमें पवित्रबुद्धि, अनात्ममें आत्मबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि—इस बुद्धिको मिटानेमें विवेक काम करेगा, क्रिया काम नहीं करेगी। (२३.१०.१९९१, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जैसे कूड़ेमें चाहे जो कुछ हो, वह त्याज्य है, फेंकनेके योग्य है, ऐसे ही प्रकृतिका कार्यमात्र त्याज्य है। (२६.१०.१९९१, सायं ४.३०, बीकानेर)

*** *** ***

ज्ञान होना दोषी नहीं है, असर पड़ना दोषी है। ज्ञान तो तत्त्वज्ञको साधारण लोगोंसे भी अधिक होता है!! भोजनके स्वादका, विहित-निषिद्धका जैसा साफ-साफ ज्ञान तत्त्वज्ञको होता है, वैसा साधारण मनुष्योंको नहीं होता! (३१.१०.१९९१, सायं ४.३०, बीकानेर)

*** *** ***

सत्संग, सच्छास्त्र, प्रार्थना और नामजप—इनसे परमात्माकी भूख जाग्रत् होती है। परमात्माकी भूख जाग्रत् नहीं है, इसीलिये संसारकी इच्छा होती है, अन्यथा अन्नकी भूख होनेपर पानी पीनेकी इच्छा होती ही नहीं! परमात्माकी इच्छा जाग्रत् होगी तो संसार अच्छा नहीं लगेगा, संसारकी इच्छा नहीं होगी। जितने अंशमें परमात्माकी इच्छा जाग्रत् हुई, उतने अंशमें संसारकी इच्छा छूटी है। (१८.११.१९९१, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

वास्तवमें राधा-तत्त्वके विषयमें जैसा भगवान् जानते हैं, वैसा कोई नहीं जानता। अनुभवीलोग इस बातको लिख सकते नहीं, लिखें तो साधारण आदमी समझ सकते नहीं! ..... स्त्री-पुरुषका आकर्षण प्रेम नहीं है, यह तो कुत्ता-कुत्तीमें भी होता है! प्रेम प्राप्त होता है तत्त्वज्ञानके बाद!! उसको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम कहते हैं। वह अनिर्वचनीय प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम ही राधा-रूपसे प्रकट होता है। ..... राधा-कृष्ण स्त्री-पुरुष नहीं

हैं, प्रत्युत हमलोगोंकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुष बने हुए हैं। ..... प्रेम-तत्त्वका नाम राधा है, व्यक्तिका नाम राधा नहीं है।

भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी प्रेम नहीं मिला—ऐसा तो देखनेमें आता है, पर प्रेम होनेपर दर्शन होते ही हैं। भगवान् प्रेमके वशमें हैं, प्रेम भगवान्‌के वशमें नहीं है। (१६.१२.१९९१, प्रातः ८, कलकत्ता)

*** *** ***

भगवान्‌में आकर्षणका नाम प्रेम है। संसारका आकर्षण प्रेमसे विरुद्ध है। वह प्रेमका बिगड़ा हुआ रूप है! भगवान् प्राणप्यारे हैं अर्थात् प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। प्राण सबको प्रिय हैं, इसलिये जीनेकी इच्छा प्राणिमात्रमें है। हरेक जीव चाहता है कि मैं जीता रहूँ, मरूँ नहीं। विवेकी, समझदार साधकोंके भीतर भी जीनेकी इच्छा रहती है—'**विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः**' (योगदर्शन २। ९)। तात्पर्य है कि प्राण सबको प्यारे हैं। उन प्राणोंसे भी भगवान् अधिक प्रिय लगें, तब प्रेम होगा!

प्रेम सबमें स्वतः-स्वाभाविक है, पर वह गलत जगह हो गया! प्रेम गुणातीत है, पर फँसे हैं तमोगुणमें!! अब प्रेम कैसे हो? सत्त्वगुणसे भी ऊँचा उठें, तब प्रेम होता है। (१७.१२.१९९१, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

'चुप साधन' का अर्थ है—न वाणीसे बोलना हो, न मनसे बोलना हो और न बुद्धिसे बोलना हो। कुछ-न-कुछ चिन्तन करना मनका बोलना है। एक निश्चय करना बुद्धिका बोलना है। सब जगह परमात्मा ही है, अहम् भी मेरा स्वरूप नहीं है—यह निश्चय करना बुद्धिका बोलना है। बुद्धिका न बोलना ही असली चुप होना है। ..... सब जगह परमात्मा ही हैं—यह बार-बार देखना 'चुप' होनेकी तैयारी है। (२२.१२.१९९१, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

जिसको किसीकी भी मृत्यु अच्छी लगती है, उसका हृदय क्रूर है। वह सेवा नहीं कर सकता। कारण कि मरना किसीको भी अच्छा नहीं लगता। (२४.१२.१९९१, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

पहलेके भोगे सुख-दुःखकी याद आती है तो यह देखे कि मैं सुखी-दुःखी हुआ ही नहीं; क्योंकि मेरा स्वरूप तो सत्तारूप है। केवल अहंकार ही सुखी-दुःखी हुआ। यह दृढ़तासे मान लेना चाहिये कि सत्तामें सुख-दुःख हो सकता नहीं, और मेरा स्वरूप सत्ता है। अहंकारविमूढ़ात्मा ही सुखी-दुःखी होता है। सत्ता विमूढ़ात्मा नहीं है। यह बहुत ही लाभकी मार्मिक बात है! (१९.१.१९९२, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

पारमार्थिक मार्गमें खास बाधक हैं—राग-द्वेष। संसारमें तो राग-द्वेष बाधक हैं ही, पर उनको परमार्थमें भी लगा देते हैं कि हम रामको मानेंगे, शंकरको नहीं मानेंगे, तो फिर राग-द्वेष कैसे नष्ट होंगे? जिस जगह कल्याण होगा, उसी जगह राग-द्वेष कर लिया, तो अब कल्याण कैसे होगा? संसारका राग-द्वेष भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है, उस परमात्मामें ही राग-द्वेष कर लिया!! कोई 'सीताराम' कहे तो जैसा आनन्द आता है, वैसा ही आनन्द भगवान्‌के अन्य नामोंको सुननेसे भी आना चाहिये कि वे हमारे ही भगवान्‌का नाम लेते हैं!! सब अपनी-अपनी भाषासे भगवान्‌को पुकारते हैं। जिस किसी तरह राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ठीक-बेठीक, अनुकूलता-प्रतिकूलताको मिटा दो, फिर बेड़ा पार है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**' (गीता ५। ३)! (२७.१.१९९२, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

अन्तकालमें कोई भगवान्‌का नाम न सुनना चाहे तो उसको नाम नहीं सुनाना चाहिये। ***'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'*** (मानस, बाल० २८। १)—इसमें नाम जपनेकी बात कही है, नाम सुननेकी नहीं। यद्यपि भगवान्‌के साथ वैर भी कल्याण करनेवाला है, तथापि नामके साथ वैर कल्याण नहीं करता; क्योंकि यह भगवान्‌के नामका तिरस्कार है।

वास्तवमें भगवान्‌के साथ वैरसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत वैरभावसे किये चिन्तनसे कल्याण होता है।

जो जिसका विरोध करता है, जिससे वैर रखता है, वह उससे लाभ नहीं उठा सकता। ऐसी कई बातें मैंने देखी हैं। (२८.२.१९९२, दोपहर ३, बीकानेर)

*** *** ***

भगवान्‌का स्मरण भी हो और काम भी हो, इसके तीन तरीके हैं—

१) भगवान्‌का स्मरण करते हुए काम करें—इसमें भगवान्‌का स्मरण मुख्य होगा, काम गौण होगा।

२) काम करते हुए भगवान्‌का स्मरण करें—इसमें काम मुख्य होगा, भगवान्‌का स्मरण गौण होगा।

३) सब काम भगवान्‌का ही समझकर करें—इसमें सब समय भगवान्‌का स्मरण होगा, करना नहीं पड़ेगा। (१९.४.१९९२, सायं ७.३०, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

कोई भी शंका हो, उसका समाधान होनेपर फिर वह शंका नहीं रहती। शंकारहितपना नित्य है और शंका अनित्य है। कारण कि शंका होती और मिटती है, पर समाधान होता और मिटता नहीं, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों रहता है। विचार किया जाय तो एक परिपूर्ण तत्त्व है, उसमें न शंका है, न समाधान है; न प्रश्न है, न उत्तर है। उस तत्त्वमें सम्पूर्ण प्राणियोंकी स्वतः स्थिति है। स्थावर-जंगम, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस आदिका भाव ही बाधक है। यह सब मिटकर एक ही तत्त्व रहेगा।

श्रुतिमें आता है—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'** (छान्दोग्य० ६। २। १) 'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था'। तात्पर्य है कि एक अद्वितीय सत् ही था और एक अद्वितीय सत् ही रहेगा और बीचमें भी वही सत् अनेकरूपसे दीखने लग गया। सत् तत्त्व भी स्वतःसिद्ध है और उसकी स्वीकृति भी स्वतःसिद्ध है। उस सत् तत्त्वको स्वीकार न करना ही बाधक है। एक सत् तत्त्व परमात्मा ही 'है' रूपसे परिपूर्ण है—ऐसा मान लें तो सम्पूर्ण शंकाओंका ठीक समाधान हो जाता है। (२०.४.१९९२, प्रातः ५, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

स्वप्न आपकी परीक्षा है। स्वप्नमें दृढ़ता नहीं है तो जाग्रत्‌में भी दृढ़ता नहीं है, तभी कहा है—***'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'*** (मानस, अरण्य० ५। ६)।

साधनावस्थामें स्वप्न तथा सुषुप्तिमें साधन छूटता है और जाग्रत्‌में साधक साधनको पकड़ता है। परंतु सिद्धावस्थामें न छूटता है, न पकड़ता है। (२०.४.१९९२, सायं ७.३०, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि करना 'पिपीलिका मार्ग' है, और 'नहीं' का निषेध करके 'है' को पकड़ना 'विहंगम मार्ग' है। (१४.५.१९९२, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

अन्त:करणकी अशुद्धि तत्त्वबोधमें बाधक नहीं है। क्रियाकी शुद्धिमें करणकी शुद्धि आवश्यक है। करणकी शुद्धिसे कर्ता शुद्ध कैसे? ..... तत्त्वज्ञान तो अपना ज्ञान है, उसमें करण बाधक कैसे? अन्त:करण अशुद्ध होते हुए भी तत्त्वज्ञान हो सकता है। (२२.५.१९९२, प्रात: ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

मैं रुपये, कपड़े, घर, परिवार आदि नहीं छुड़ाता, प्रत्युत चाहना छुड़ाता हूँ! आपकी चाहना निरर्थक है। आप अचाह होकर देखो, घटा लग जाय तो मेरे कान पकड़ना! आप न चाहनेवालेको ही देना चाहते हैं, फिर आप खुद न चाहनेवाले क्यों नहीं बनते? (२९.५.१९९२, प्रात: ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं आत्मा हूँ' और 'मैं जीव हूँ'—इन तीनोंमें 'मैं ब्रह्म हूँ' महान् बाधक है! सांगोपांग वज्र बाधक है!! उससे कम बाधक है—'मैं आत्मा हूँ'। 'मैं जीव हूँ'—यह इतना बाधक नहीं है।

'मैं चोर हूँ' की अपेक्षा 'मैं ईमानदार हूँ'—यह ज्यादा बाधक है। इसका मिटना कठिन है; क्योंकि इसमें दूसरोंकी सम्मति है। दूसरोंसे अपनी विशेषता दीखती है—यह बहुत ज्यादा बाधक है। अपनेमें अच्छाई दीखना बुराईकी जड़ है। **अपनेमें जितना अच्छेपनका आरोप होगा, उतनी ही बुराई पैदा होगी—यह नियम है।** (५.६.१९९२, प्रात: ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

बाहरकी सफाई करनेसे अन्त:करणकी सफाई होती है। (६.६.१९९२, प्रात: ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आपका स्वरूप है—सत्ता। सब योनियोंमें सत्ता वही है। चाहे कसाई हो, चाहे सन्त-महात्मा हो, चाहे पशु हो, चाहे भूत-प्रेत हो, सत्ता वही है। इस सत्तासे बढ़कर कोई बात नहीं है! **सत्तामें कुछ भी मत मिलाओ तो आप जीवन्मुक्त हैं।** कुछ मिलाओगे तो बँध गये! यही तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान है! इससे बढ़कर बात आपको मिलेगी नहीं! (९.६.१९९२, प्रात: ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

बिना लगनके पढ़ाई करनेसे सीखना होता है, जानना नहीं होता। जानना होता है—लगन, भूख लगनेसे। सीखनेसे तत्त्वको जाननेमें बाधा लगती है। सीखनेसे तत्त्वसे और दूर हो जाओगे। (२१.६.१९९२, प्रात: ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

दास बनो तो ऐसेके दास बनो, जो आपका दास बन जाय! वे हैं—भगवान्!! (२२.६.१९९२, प्रात: ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

जबतक यह होश रहे कि 'मैं हूँ', जबतक तत्त्वज्ञानमें सन्तोष मत करो। गंगाजीमें तबतक चलते रहो, जबतक पूरे डूब न जाओ! सन्तोष करनेमें धोखा बहुत होता है! (२६.६.१९९२, प्रात: ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

परमात्माके सिवाय कोई प्रत्यक्ष नहीं है। वे आठों पहर प्रत्यक्ष रहते हैं!! (२७.६.१९९२, प्रात: ९,

गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

ईश्वर कहाँ है? ईश्वर वहाँ है, जहाँ 'कहाँ-यहाँ-वहाँ' नहीं है! उसमें देश, काल आदि हैं ही नहीं। (२८.६.१९९२, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

शिवजीके मन्दिरमें घण्टाकर्णका नाम लो। रामजीके मन्दिरमें शबरी आदिका नाम लो। भक्तोंके नामसे भगवान् राजी होते हैं। शिवजीके मन्दिरमें रामायण-पाठ करो। रामजीके मन्दिरमें शिवताण्डव, शिवमहिम्नः पढ़ो। वे राजी हो जायँगे! (३.७.१९९२, प्रातः ९, गीताभवन, ऋषिकेश)

*** *** ***

आपका स्वरूप सहज है, इसलिये उसको जाननेको 'सहजावस्था' कहते हैं। उसको किसी क्रियासे, श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे नहीं जान सकते। अभ्याससे नित्य तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। अभ्याससे अवस्था बनती है। **बात माननेसे ठहरती है, अभ्याससे नहीं। अपने वर्ण, नाम, जातिको आपने माना है कि अभ्यास किया है? माननेसे ही 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह बात ठहरी है।** (२४.७.१९९२, प्रातः ५, रामद्वारा, मथानिया, जोधपुर)

*** *** ***

कोई वस्तु बढ़िया हो तो सबको बढ़िया दीखनी चाहिये, पशुओंको भी। वास्तवमें बढ़ियापना आपका अपना बनाया हुआ है। (२७.७.१९९२, प्रातः ५, मथानिया)

*** *** ***

तत्त्वज्ञान होनेमें कई जन्म नहीं लगते, होना हो तो मिनटोंमें हो जाता है। (३०.७.१९९२, प्रातः ५, मथानिया)

*** *** ***

हम मानते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति कठिन है, पर वास्तवमें कठिनता हमारी बनायी हुई है, परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है। **जैसे सूर्य किसीसे छिपता नहीं, ऐसे ही परमात्मा किसीसे छिपते नहीं, चाहे कोई कैसा ही हो!** कमी हमारी लगनकी है। परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, संसारके सम्बन्धका त्याग कठिन है। इसके त्यागकी जिम्मेवारी हमारेपर है। हमारी भूख न हो तो बढ़िया भोजन भी किस कामका? अतः परमात्माकी प्राप्तिमें जो कठिनता मालूम देती है, वह अपनी ही बनायी हुई कठिनता है। हम उधर कठिनता देखते हैं, पर कठिनता उधर नहीं है, इधर ही है!!

बन्धनको शास्त्रोंमें अनादि माना गया है। **बन्धन अनादि होते हुए भी वास्तवमें मनुष्यशरीरसे ही बन्धन हुआ है और मनुष्यशरीरमें ही मुक्ति होगी!** मनुष्यजन्ममें किये हुए कर्मोंके ही फल अन्य योनियोंमें भोगे जाते हैं। अन्य सब भोगयोनियाँ तथा भोगभूमियाँ है। (१.८.१९९२, प्रातः ५, मथानिया, जोधपुर)

*** *** ***

मनुष्यकी बुद्धि अहम्‌से भ्रष्ट नहीं होती, प्रत्युत कामनासे भ्रष्ट होती है। जड़ पदार्थोंकी कामना ही पापोंका खास हेतु है (गीता ३। ३६-३७)। कामना अहम्‌से भी ज्यादा हानिकारक है।

अगर अहम्‌को मिटाना हो तो सबसे पहले अहम्‌को देखना चाहिये। जैसे नेत्रोंसे यह खम्भा दीखता

है, ऐसे भीतरसे अहम् साफ दीखना चाहिये। दीखनेके बाद उसको मिटानेकी कोशिश होती है। अहम् दीखने लग गया तो मानो वह मिटने लग गया। कारण कि जो वस्तु अपनेसे दूर होती है, वही दीखती है। जैसे आँखसे सब कुछ दीखता है, पर आँखमें लगा काजल नहीं दीखता; क्योंकि वह अत्यन्त नजदीक है। जो अत्यन्त नजदीक होता है, वह नहीं दीखता। जब वह थोड़ा-सा दूर होता है, तब दीखने लगता है। ऐसे ही अहम् दीखने लग जाय तो वह अपनेसे थोड़ा दूर हो गया। फिर अहम् मिट सकता है।

जबतक 'मैं हूँ, मैं काम करता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, जागता हूँ, पुण्य करता हूँ'—इस प्रकार अहम् मिला हुआ दीखता है, अलग नहीं दीखता, तबतक अहम् मिटता नहीं। कारण कि स्वयं चेतन है, उसके साथ जो मिल जायगा, वह भी चेतन दीखने लग जायगा। (२५.८.१९९२, प्रातः ५, मथानिया, जोधपुर)

*** *** ***

श्रोता—परमात्मा सब जगह व्यापक हैं, फिर वे रक्षा क्यों नहीं करते?

स्वामीजी—अग्नि सब जगह व्यापक है, फिर रोटी क्यों नहीं सिकती? शरीरमें आप सब जगह व्यापक हैं, फिर पैरसे क्यों नहीं खाते? **परमात्मा सब जगह हैं—यह जाननेकी बात है। कार्य करनेके लिये उनको अवतार लेना पड़ता है।** गाय बीमार हो गयी, उसको काली मिर्च और घी देना है तो घी उसके भीतर है ही, फिर घी क्यों दें? तो क्या वह ठीक हो जायगी? जैसे घी प्रकट होकर कार्य करता है, अग्नि प्रकट होकर कार्य करती है, ऐसे ही भगवान् प्रकट होकर कार्य करते हैं। (३०.८.१९९२, प्रातः ८.३०, मथानिया, जोधपुर)

*** *** ***

श्रोता—आपके अनुपम साहित्यको पढ़ करके और प्रवचनोंको सुन करके कई मुसलमान हिन्दू बनना चाहते हैं। इस विषयमें आपका क्या मत है?

स्वामीजी—हिन्दू बननेकी जरूरत नहीं है, असली मुसलमान बनो। हिन्दू बननेमें कोई पाप नहीं है; परंतु हिन्दू बननेपर ही कल्याण होगा—यह मैं नहीं मानता हूँ। अपने मुस्लिम-धर्ममें रहते हुए भी अपने धर्मका पालन करो, किसी भी जीवकी हिंसा मत करो, मांस-मछली-अण्डा मत खाओ, मदिरा मत पीओ, भगवान्‌के नामका जप करो, कीर्तन करो। जो हम करते हैं, वैसा करो तो मुसलमान रहते हुए भी कल्याण हो जायगा। हिन्दुओंके साथ, किसीके भी साथ द्वेष, वैर-विरोध मत करो। वैर पतन करनेवाली चीज है। **हिन्दू बननेमें कोई दोष नहीं है, पर न भी बनो तो अपने धर्मका पालन करनेसे कल्याण वहाँ भी हो जायगा।** रसखान भगवान् कृष्णके बड़े भक्त थे। ऐसे कई मुसलमान पुरुष और स्त्रियाँ भगवान्‌के बड़े भक्त हुए हैं। आप जहाँ हो, वहाँ ही भजन करने लग जाओ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मुसलमान आदि कोई क्यों न हो, वहाँ ही भगवान्‌का भजन करो। (१.९.१९९२, प्रातः ८.३०, मथानिया, जोधपुर)

*** *** ***

गीताने अहिंसाकी शिक्षा दी है, हिंसाकी नहीं। युद्धकी हिंसा पाप नहीं है। यदि युद्धको हिंसा मानें तो सभी ऑपरेशन करनेवाले डॉक्टर हिंसक हो जायँगे! बड़े-बड़े धर्मात्मा भीष्म, द्रोण आदिने भी युद्ध किया। (१५.१०.१९९२, दोपहर ३, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मालवीय भवन, वाराणसी)

*** *** ***

जबतक राग-द्वेष रहते हैं, तबतक परमात्मा नहीं दीखते। गीताके सिद्धान्तके अनुसार जबतक राग-द्वेष

रहते हैं, तबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। राग-द्वेष मिटते ही परमात्मा दीखने लग जाते हैं। **परमात्मा तो सूर्यकी तरह प्रकट हैं, हमारे राग-द्वेषने ही (बादलकी तरह) आड़ लगायी है!** राग-द्वेषको मिटानेके लिये ही कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग हैं। (१६.१०.१९९२, प्रातः ९, वाराणसी)

*** *** ***

अगर ज्ञानमार्गमें सगुणसे अरुचि हो जाती है तो वह ज्ञानमार्ग नहीं है, पाखण्ड है! वह असली ज्ञान नहीं है, कोरा पुस्तकीय ज्ञान है! वास्तवमें ज्ञानीका अन्तःकरण निर्मल होता है। निर्मल अन्तःकरणपर प्रेमका विशेष असर पड़ता है। पुस्तकीय ज्ञानसे ही भक्तिमें अरुचि होती है। (२१.१०.१९९२, प्रातः ८, गीताप्रेस, गोरखपुर)

*** *** ***

वास्तवमें त्याग कठिन नहीं है, प्रत्युत ग्रहण कठिन है। क्या किसी चीजको आप रख सकते हो? रखनेकी ताकत है? आप अपनी तरफसे रखनेकी इच्छा मत करो—यही त्याग है। यह त्यागकी मार्मिक बात है! (३.११.१९९२, दोपहर ३, वृन्दावन)

*** *** ***

नामजप ज्यादा होनेसे नींदमें भी नामजप होता है। इसकी पहचान है कि नींद खुलते ही नामजप होते हुए स्वतः दीखेगा, नामको याद नहीं करना पड़ेगा। अगर नींदसे जगनेपर नामजप शुरू करना पड़ता है तो इसका अर्थ है कि नींदमें नामजप छूटा है। इसी तरह तत्त्वज्ञान होनपर नींदसे जगते ही बिना याद किये तत्त्वमें स्वतः स्थिति दीखती है। अगर नींदसे जगनेके बाद तत्त्वका विचार करते हैं, उसको याद करते हैं, उसमें स्थित होते हैं तो इसका अर्थ है कि अभीतक तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, अभी अभ्यास चलता है। यह पहचान है कि तत्त्वबोध हुआ कि नहीं हुआ? (८.११.१९९२, प्रातः ५, वृन्दावन)

*** *** ***

प्रेमके लिये साथमें रहो और मतभेद होनेपर प्रेमके लिये ही अलग-अलग हो जाओ। (११.११.१९९२, प्रातः ५, वृन्दावन)

*** *** ***

शंकर, सनकादिकमें ज्ञान कम है क्या? वे शंकर भी यशोदासे कहते हैं कि लालाके दर्शन करा दे! क्या ज्ञानसे लालाके दर्शनकी भूख मिट गयी? अगर दर्शनकी भूख मिट जाय तो वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है! वह असली ज्ञान नहीं है.....नहीं है.....नहीं है!

प्रेम और ज्ञान दोनों एक-दूसरेके सहायक हैं। ज्ञान होनेपर प्रेम न हो तो वह ज्ञान नहीं है। सबके अनुभवकी बात है कि ज्ञान होते ही एक प्रसन्नता होती है, आनन्द आता है, वह आनन्द प्रेमका है। **असली प्रेम होगा तो ज्ञान भी होगा, और असली ज्ञान होगा तो प्रेम भी होगा—यह नियम है।** सीखी हुई ज्ञानकी बातोंसे गड़बड़ी होती है। **ज्ञानके बिना प्रेम आसक्ति है, और प्रेमके बिना ज्ञान शून्यवाद है।** उससे नास्तिकता आयेगी। ज्ञानमें प्रेम और प्रेममें ज्ञान ओतप्रोत हैं। गीता पढ़नेसे यह वहम नहीं होता कि ज्ञान और प्रेम अलग-अलग हैं। (१७.११.१९९२, दोपहर ३, वृन्दावन)

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्तिमें उद्योग और प्रारब्धकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत केवल अनन्य चाहनाकी प्रधानता है। वह चाहना विचारसे भी लग सकती है, सत्संगसे भी लग सकती है, कोई आफत आनेपर भी लग सकती

है, किसी तीर्थस्थानमें अचानक किसी जगहका प्रभाव पड़नेपर भी लग सकती है, प्रार्थना करनेसे भी लग सकती है, नामजपसे भी लग सकती है, आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारनेसे भी लग सकती है। (२१.११.१९९२, प्रातः ५, वृन्दावन)

*** *** ***

देवता शरीरसे ऊँचे हैं, भावसे नहीं। परंतु सन्त-महात्मा भावसे ऊँचे होते हैं। (२.१२.१९९२, प्रातः ५, कलकत्ता)

*** *** ***

देवता भक्तिमार्गमें बाधा नहीं देते, ज्ञानमार्गमें बाधा देते हैं। भक्तिमार्गमें भगवान्‌का सहारा होता है। (१६.१.१९९३, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

हर समय भगवान्‌को नमस्कार करना शुरू कर दो। समझमें न आये तो भी सबको भगवान् मानकर मन-ही-मन नमस्कार करते रहो। हरदम चलते-फिरते नमस्कार करो। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कुछ है नहीं। सबको नमस्कार करनेसे भगवान् दीखने लग जायँगे। यह बहुत बड़ा साधन है! (२२.१.१९९३, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

प्रश्नका समाधान भगवान्‌की कृपासे होता है। समझानेकी शक्ति परमात्मामें है। समाधान न वक्ताके ज्ञानसे होता है, न श्रोताकी जिज्ञासासे। यह कृपासाध्य है! भागवतमें आया है कि भगवान्‌की कथाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेसे प्रश्न करनेवाला, उत्तर देनेवाला और श्रोता—तीनों पवित्र हो जाते हैं—

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। १। १६)

'भगवान् श्रीकृष्णकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेसे वक्ता (उत्तर देनेवाला), प्रश्नकर्ता और श्रोता—तीनों ही पवित्र हो जाते हैं; जैसे—गंगाजीका जल सबको पवित्र कर देता है।'

न तो पूछनेवाला सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ है, न कहनेवाला सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ है। भगवान् सर्वज्ञ भी हैं और सर्वसमर्थ भी हैं। दीखनेमें कहनेवाला-सुननेवाला दीखता है, पर काम तो भगवान् ही करते हैं! अतः मूलमें भगवान्‌का महत्त्व है, कहने-सुननेवालेका महत्त्व नहीं है। (२७.१.१९९३, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

प्रत्येक कार्यके आदि और अन्तमें अपने उद्देश्यकी याद आनी चाहिये कि हम यह कार्य क्यों कर रहे हैं? किसलिये कर रहे हैं? साधु हुए तो 'क्यों साधु हुए'—यह मनमें आनी चाहिये। हम सत्संगमें क्यों आते हैं—यह विचार आना चाहिये। काम आरम्भ करनेसे पहले सोचें कि हम क्यों कर रहे हैं? भोजन भी हम क्यों कर रहे हैं? कपड़ा क्यों धो रहे हैं, क्यों पहन रहे हैं? ऑफिसमें भी बड़े अक्षरोंमें लिख दें—'हम यह काम क्यों कर रहे हैं?' तात्पर्य है कि **परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको हर समय जाग्रत् रखना चाहिये।** 'पंचामृत' में लिखा है कि हम जो भी काम करते हैं, भगवान्‌का ही काम करते हैं। यह भाव रहनेसे सब काम भजन हो जायगा! (३०.१.१९९३, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

जाते हुएका ज्ञान होते ही रहनेवालेका ज्ञान स्वतः हो जाता है; क्योंकि जाते हुएको जानेवाला नहीं देख रहा है, प्रत्युत रहनेवाला ही देख रहा है। **जाते हुएके ज्ञानमें ही रहनेवालेका ज्ञान छिपा हुआ है!** विनाशीको अविनाशी ही देख सकता है। हम जानेवाले नहीं हैं, प्रत्युत रहनेवाले हैं—यह मुक्ति है! (११.२.१९९३, प्रातः ५, बीकानेर)

*** *** ***

एक बहुत ही सुगम तथा दामी बात है कि भगवान् मेरेको देख रहे हैं! मैं भगवान्‌की दृष्टिमें हूँ! मेरेको तो भगवान्‌को देखना नहीं आता, पर भगवान्‌को तो मेरेको देखना आता है। मैं सूरदास हूँ तो क्या भगवान् भी सूरदास हैं? वास्तवमें आप सब-के-सब भगवान्‌की दृष्टिमें हैं। अतः जैसे माँकी दृष्टिमें बच्चा रहता है, ऐसे आप निरन्तर भगवान्‌के सामने रहो। कितना सरल साधन है! (२३.३.१९९३, दोपहर ३, बीकानेर)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

साधकोपयोगी विविध बातें

१. भक्त सदा अपनेको भगवान्‌का दास मानता है, वह सिद्ध कभी होता ही नहीं।

२. प्रारब्धका भोग भगवत्प्राप्तिके बाद भी (शरीरको) भोगना पड़ता है। जबतक शरीर है, तबतक प्रारब्ध है और जबतक प्रारब्ध है, तबतक शरीर है।

३. जैसे धनका लोभी पैदल चला जायगा, पर टैक्सी नहीं करेगा, ऐसे ही भक्त प्रारब्धका कष्ट भोग लेगा, पर उसपर अपनी भक्ति खर्च नहीं करेगा।

४. काम कम हो, समय अधिक हो और खर्चे (आवश्यकता)-से अधिक पैसा हो तो उसका पतन अवश्य होता है। समय अधिक खाली मिलनेसे साधुओंका और अधिक पैसे मिलनेसे गृहस्थोंका पतन होता है।

५. व्यर्थ चिन्तन और स्वप्नमें अपनी वास्तविक स्थितिका दर्शन होता है।

६. मनोरंजन ऐसा हो, जिससे समय सार्थक हो, व्यर्थ न जाय।

७. हमारे पास पूँजी तो प्रेमकी ही है। अतः जितने अंशमें संसारसे राग होगा, उतने ही अंशमें भगवान्‌से द्वेष होगा; क्योंकि संसारमें राग उस प्रेमसे ही तो खर्च हुआ!

८. जिस वस्तुमें किसीका मन चलायमान हो जाय, वह वस्तु अशुद्ध हो जाती है।

९. साधक शरीरको अपना मानता रहेगा तो परमात्माको अपना माननेपर भी अनुभव नहीं होगा।

१०. हम रामका ही नाम लेंगे, कृष्णका नहीं—यह अनन्यभाव नहीं है। असत् 'अन्य' है; अतः असत्‌का आश्रय न लेना ही अनन्यभाव है। राम, कृष्ण आदि तो अनन्य (एक तत्त्व) ही हैं।

११. हमारे पास बातोंकी कमी नहीं है, फिर भी तत्त्वप्राप्ति क्यों नहीं हो रही है? इसका कारण है—भोग और संग्रहकी आसक्ति। सुख भोगें और संग्रह करें—यही खास बाधा है।

१२. सत्संगकी तात्त्विक बात भूलती क्यों है? क्योंकि हम उसको महत्त्व नहीं देते। एक रुपया भी गुम हो जाय तो क्या हम उसको भूल जाते हैं?

१३. 'मैं संसारी हूँ'—ऐसा मानकर साधन करेंगे तो वह साधन पुण्यकर्मकी तरह होगा!

१४. भोला बनकर रहना ही ठीक है। समझदार बननेसे आफत ही आयेगी!

१५. मुख्य बात, भगवान्‌में मन लगना चाहिये। जहाँ भगवान्‌में मन लग जाय, वहीं वृन्दावन, अयोध्या, काशी आदि है। जब मन न लगे तो समझे कि वृन्दावन आदि खो दिया!

१६. साधन करते हुए भी लाभ क्यों नहीं होता; क्योंकि साधकके भीतर अहंतामें यह बात बैठी रहती है कि मैं तो गृहस्थ हूँ, बाबाजी थोड़े ही हूँ, मुझे घर भी देखना है; मैं तो संसारी हूँ, आदि। यह अहंता बाधा देती है, जिसका पता साधकको जल्दी नहीं लगता। ऐसे ही उसने पहले जिसको गुरु बना लिया, उससे लाभ नहीं हुआ, लाभ दूसरेसे हुआ, फिर भी गुरु पहलेवालेको ही मानता है; क्योंकि गुरुका भाव उसमें भीतर जाकर बैठ गया। इसका पता तब लगता है, जब भीतर व्याकुलता होती है कि इतने दिन हो गये, इतना साधन कर लिया, फिर भी तत्त्वप्राप्ति क्यों नहीं हो रही है!

१७. मनुष्यको सांसारिक विषयमें तो सन्तोष करना चाहिये, पर पारमार्थिक उन्नतिमें कभी सन्तोष नहीं करना

चाहिये। सन्तोष हो जाय तो हाथकी बात नहीं, पर सन्तोष करे नहीं। कबतक सन्तोष न करे? जबतक एक भी जीव बन्धनमें है, तबतक! क्योंकि सब अपने ही अंग हैं।

१८. भगवत्प्राप्तिके लिये साधु बननेकी जरूरत नहीं है।

१९. कोई व्यक्ति किसी पुस्तकका दूसरी भाषामें ठीक अनुवाद तभी कर सकता है, जब वह उसके भावोंसे परिचित हो। जैसे, '**तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि**' (गीता २। ३०)—इसका भाव समझे बिना कोई सीधा अनुवाद करे तो वह यही लिखेगा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये'। परंतु सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये कोई शोक करता ही नहीं! वास्तवमें इसका अर्थ होगा—'किसी भी प्राणीके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये'। इसलिये लेखकके भावोंको भलीभाँति जाने बिना पुस्तकका दूसरी भाषामें अनुवाद नहीं करना चाहिये।

२०. अपनेको सदा साधक ही मानते रहना चाहिये। अपनेको सदा साधक मानते रहनेपर व्यक्तित्व नहीं रहेगा। कारण कि व्यक्तित्व रखना साधकका उद्देश्य नहीं है। अपनेको साधक मानते रहनेसे साधकपना टिकेगा नहीं! वह विवेचन करेगा तो सिद्धकी तरह कर देगा! परंतु अपनेको सिद्ध मानेगा तो व्यक्तित्व रहेगा, और कहीं भूलसे साधक होते हुए भी अपनेको सिद्ध मान लेगा तो मुश्किल हो जायगी! साधकपना मिटेगा ही नहीं! अतः अपनेको सदा साधक ही मानते रहना चाहिये, सिद्ध नहीं बनना चाहिये।

२१. 'फिर करेंगे'—यह (कामको आगे छोड़नेवाली) बात मेरेको बहुत बुरी लगती है! ऐसे स्वभाववाला व्यक्ति अपना कल्याण नहीं कर सकता! 'पीछे करेंगे'—यह महान् धोखा देनेवाली चीज है!

२२. सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्र और दुःख—ये चार बातें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाली हैं।

२३. भगवत्कृपाके बिना कोई भी योग-मार्ग नहीं चलता; परंतु इस बातको भक्त ही समझता है!

२४. जबतक शरीरबुद्धि रहती है, तबतक प्रेम प्रकट नहीं होता।

२५. 'मैंने बहुत बढ़िया बात कही'—यही नीची बात है; क्योंकि यह बात अहम्‌को लेकर है। इसका भोक्ता अहम् है।

२६. असंगताका अनुभव हो जाय—यह असली साधुपना है।

२७. 'हम कुछ जानते नहीं'—इसमें बड़ा भारी बल है! यह बात भी सत्य है और आफत भी नहीं है!

२८. समझानेकी बीमारी समझनेमें महान् बाधक है! प्यास जल पीनेसे बुझती है, कुल्ला करनेसे नहीं।

२९. साधकको व्यवहार करते समय सावधान रहना चाहिये और अन्य समय उदासीन रहना चाहिये।

३०. नामजप क्रिया या अभ्यास नहीं है। कारण कि नामजपमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है। नामजपमें भगवान्‌की सम्मुखता होनेसे यह उपासनासे भी तेज है! उपासनामें तो अभ्यास आता है। अतः यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओंकी उपेक्षा करे, नामजपकी नहीं।

३१. प्रायः साधककी शिकायत रहती है कि क्या करूँ, बातें तो समझ लीं, पर आचरणमें नहीं आयीं! वास्तवमें मूल भूल है—असत्‌को सत्ता देकर महत्ता दे दी, पर लाना चाहते हैं आचरणमें! मूल भूलको दूर किये बिना आचरणमें कैसे आयेगी?

३२. देशकथा, राज्यकथा और भोजनकथा—इन तीनोंका साधन करनेवालेको त्याग कर देना चाहिये।

३३. जो मृत्युरहित है, वही जीवन है। जो अज्ञानरहित है, वही ज्ञान है। जो दुःखरहित है, वही सुख है। जो हानिरहित है, वही लाभ है। जो वियोगरहित है, वही योग है। जो प्रतिकूलता-रहित है, वही

अनुकूलता है। उसकी प्राप्ति होगी—मैं-मेरापन मिटनेसे।

३४. मूल तत्त्व सगुण परमात्मा है।

३५. लेख लिखना, कविता बनाना, व्याख्यान देना आदि हमारे घरकी चीज नहीं है, प्रत्युत मूलमें कोई विलक्षण लेखक, कवि, वक्ता आदि है, उसीसे हमें ये चीजें मिलती हैं। सब कुछ भगवान्‌से ही आता है।

३६. 'आत्मा' की जगह 'स्वयं' शब्दका प्रयोग बढ़िया है। मैं स्वयं, तू स्वयं, यह स्वयं और वह स्वयं तो कह सकते हैं, पर मैं आत्मा, तू आत्मा आदि नहीं कह सकते! गीतामें भी कहा है—**'स्वयमेवात्मनात्मानम्'** (गीता १०। १५)!

३७. जैसे मल-मूत्र त्याग करनेके लिये हैं, ऐसे ही अपने लिये किया गया कर्म और कर्मफल—दोनों ही त्याग करनेके लिये हैं। ये हमारे क्या काम आयेंगे?

३८. अगर स्त्रीमें सुख है तो स्त्रीको हरदम सुखी रहना चाहिये! स्त्रीको पुरुषमें सुख दीखता है तो पुरुषमें हरदम सुख रहना चाहिये! वास्तवमें अपनी रसबुद्धिके कारण ही पदार्थोंमें सुख दीखता है।

३९. साधक अपनी स्थितिको बढ़िया मानता है तो भगवान् उसको फीका कर देते हैं, जिससे वह उसमें अटके नहीं, और आगे बढ़े। अन्तमें जीवन्मुक्तिको भी फीका कर देते हैं, उसको अनन्तरस देनेके लिये!

४०. वस्तुओंको सेवा-सामग्री माने और व्यक्तियोंको परमात्माका स्वरूप माने—यह साधन है। दूसरे शब्दोंमें, 'सजीव' परमात्माका स्वरूप है और 'निर्जीव' सेवा-सामग्री है। सेवा-सामग्रीसे सेव्यकी सेवा करना सर्वोच्च साधन है। वस्तु और व्यक्ति—दोनोंसे सुख लेना घोर असाधन है, महान् पतन है!

४१. भक्त भोला होता है, उसमें चालाकी नहीं होती। चालाकी होती है सांसारिक वस्तुओंका महत्त्व होनेसे। भक्तके हृदयमें वस्तुओंका महत्त्व होता ही नहीं। इसलिये वह भजनमें लगा रहता है, दूसरी बातोंसे मतलब नहीं रखता। इस कारण लोग उसको भोला समझ लेते हैं।

४२. पूर्ण शरणागति है—एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। अगर साधक अपनी सत्ता अलग मानता है तो वह पूर्ण शरणागत नहीं हुआ!

४३. जब सब कुछ परमात्मा ही हैं तो फिर मन कहाँ जायगा? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण भी तो वही है। मन भी वही है, मनकी कल्पना भी वही है।

४४. दूसरोंको सामने रखना ही बाधक है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता दीखती है तो यह भोग है, बन्धन है।

४५. भक्तिमें 'जीवकृत सृष्टि' भी परमात्मा ही है! अविवेक भी परमात्मा ही है!

४६. प्रेमास्पद ही सेव्य-रूपसे व्यवहारमें हमारे सामने आते हैं। अतः व्यवहारमें सेवा और एकान्तमें प्रीति रहनी चाहिये।

४७. वस्तु, व्यक्ति, मकान आदि अच्छा मिल जाय तो फँसोगे, पराधीन होओगे! एकान्त मिल जाय तो अपनी (एकान्त मिलनेकी) कामनाकी पूर्ति होगी, न कि परमात्माकी प्राप्ति!

४८. चाहे प्रारब्ध कहो, चाहे भगवान्‌की कृपा (मरजी) कहो—दोनों बातें सर्वथा सही हैं। प्रारब्धका भोग भी है और भगवत्कृपा भी पूरी है!

४९. भक्तिमें भी यदि साकारका आग्रह रहेगा तो समग्रकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने मतमें सन्तोष, अपने मतकी महत्ता, आग्रह, पक्षपात नहीं रहेगा तो समग्रकी प्राप्ति सुगमतासे हो जायगी।

५०. किये हुएसे, उत्पन्न हुएसे, बनाये हुएसे, मिले हुएसे हम अपनेको बड़ा मानते हैं—यही गलती है।

५१. लोभके कारण ही ऐसा दीखता है कि हम साधन तो ज्यादा करते हैं, पर लाभ कम होता है! लोभ न हो तो दीखेगा कि हम साधन तो कम करते हैं, पर लाभ ज्यादा होता है!

५२. साधकका वर्णन और तरहका होता है तथा सिद्धका वर्णन और तरहका। संसारकी सत्ता मानकर वर्णन करनेसे केवल बुद्धिका विकास होता है, बुद्धि सुन्दर बनती है अर्थात् बुद्धिका शृंगार होता है, जिससे मनुष्य बातें सीख जाता है। परंतु जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता नहीं है, उन अनुभवी महापुरुषका वर्णन और तरहका होता है।

५३. '**वासुदेवः सर्वम्**' से हम शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदिसे भी तेज हो सकते हैं; क्योंकि '**वासुदेवः सर्वम्**' में मतभेद नहीं है!

५४. भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव करना ही 'प्रार्थना' है। केवल इसीसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी, पर साथमें अन्य कोई आवश्यकता न हो।

५५. जैसे माँ अपने प्राणोंसे भी अधिक अपने बालककी परवाह करती है, लोभी धनकी परवाह करता है, ऐसे ही साधकको भी अपने साधनकी परवाह करनी चाहिये।

५६. साधन करनेसे जो प्रकाश मिलता है, वह केवल दर्शनिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं मिलता।

५७. संसारमें मनुष्य ज्यों-ज्यों सम्बन्ध जोड़ेगा, त्यों-त्यों उसका पतन होगा, यहाँतक कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ेगा तो भी पतन होगा!

५८. शरीर बना रहे—यह आसुरी सम्पत्तिका मूल है।

५९. जंगल या पर्वत तप रहा हो और उसमेंसे निकलकर मनुष्य गंगाके पाटपर आ जाय तो यह 'कर्मयोग' है। गंगाके किनारे आ जाय, जहाँ गंगाकी ठण्डी हवाके झोंके आयें तो यह 'ज्ञानयोग' है। पर गंगामें घुस जाय, डूब जाय तो यह 'भक्तियोग' है। भक्तियोग साध्य है।

६०. परमात्माके सिवाय किसीको भी सत्ता देना परमात्माके प्रति अपराध है!

६१. प्रसादबुद्धिसे करेला और रसगुल्ला एक हैं, पर भोगबुद्धिसे दो हैं!

६२. छोटी-से-छोटी क्रिया भी दूसरेके लिये है, अपने लिये नहीं है—यह कर्मयोगका रहस्य है।

६३. मृत्युमें विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है; अतः मृत्युमें दुःख नहीं है। जीनेकी इच्छा रखनेसे ही मरनेका दुःख होता है। जीनेकी इच्छा विजातीयके साथ सम्बन्ध रखनेकी इच्छा है, जो असम्भव है।

६४. सुखासक्तिका नाम ही 'असाधन' है।

६५. प्रत्येक क्रियामें अनिवार्य हिंसा होती है, पर भोगबुद्धिके कारण ही वह हिंसा लगती है।

६६. भक्तिमें न लेनेवाला रहता है, न देनेवाला रहता है। केवल 'तू' और 'तेरा' रहता है। पर जो 'तेरा' है, वह भी तो 'तू' ही है!

६७. सुखी-दुःखी होनेसे पाप-पुण्य नष्ट नहीं होते, प्रत्युत अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति देकर पाप-पुण्य नष्ट होते हैं।

६८. असत्‌को सत्ता दिये बिना कोई असाधन हो ही नहीं सकता। असत्‌का त्याग किये बिना जो भी साधन करें, सब नकली हैं!

६९. परमात्मा 'है' रूपसे है। उसकी शरण हो जाय कि 'है-ही-है', 'मैं' नहीं है।

७०. भगवान्‌में सामर्थ्य तो ज्यादा है, पर करुणा कम है! सन्तमें करुणा तो ज्यादा है, पर सामर्थ्य कम है! भगवान्‌में मर्यादा मुख्य है, सन्तमें करुणा मुख्य है।

७१. भगवान्‌में 'न्याय' मुख्य है और सन्तोंमें 'दया' मुख्य है, जबकि यह दया भी भगवान्‌से ही आती है!

७२. हम 'परा' हैं और शरीर 'अपरा' है (गीता ७। ४-५)। परा-अपरा दोनों भगवान्‌से अभिन्न, भगवत्स्वरूप हैं, तो केवल '**वासुदेवः सर्वम्**' ही रहा! यह बड़ी मार्मिक, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बात है! केवल भगवान्‌की कृपा होनेसे ही इस तरफ दृष्टि जाती है!

७३. हरेक साधनमें प्रियता होनी चाहिये, उसमें रस आना चाहिये। क्रियासे जल्दी सिद्धि नहीं होती। प्रियतासे जल्दी सिद्धि होती है।

७४. वास्तवमें साधनमें 'क्रिया' मुख्य नहीं है, प्रत्युत 'भाव' और 'विवेक' मुख्य हैं। क्रिया और पदार्थ असाधनमें मुख्य हैं! हाँ, भाव और विवेककी मुख्यता होनेसे क्रिया और पदार्थ भी मुख्य हो जायँगे।

७५. विद्वान् होकर निष्पक्ष होना कठिन बात है। हाँ, साधक निष्पक्ष हो सकता है।

७६. कर्मयोग और ज्ञानयोगमें तो निषेध-ही-निषेध है, पर भक्तियोगमें विधि भी है *(**मेरे तो गिरधर गोपाल**)* और निषेध भी है *(**दूसरो न कोई**)*।

७७. तेज बुद्धिवाला व्यक्ति वकील, मिनिस्टर आदि तो बन सकता है, पर भक्त या आस्तिक नहीं बन सकता। बुद्धि तेज न हो तो भी भक्त बन सकता है। तेज बुद्धिवाला भगवान्‌से दूर भी ज्यादा जायगा! जैसे तेज मोटर हमारे पास हो तो हम नजदीक भी ज्यादा जा सकते हैं और दूर भी ज्यादा जा सकते हैं। ऐसे ही बुद्धि भगवान्‌की दी हुई मोटर है, जिससे भगवान्‌के नजदीक भी ज्यादा जा सकते हैं और दूर भी।

७८. परमात्मा प्रकटरूपसे 'सेव्य' हैं और अप्रकटरूपसे 'प्रियतम' हैं।

७९. दूसरोंसे अपनी पूजा करवानेवाला पूजन करनेवालोंका कर्जदार हो जाता है।

८०. लौकिक सिद्धिमें 'प्रारब्ध' का बलाबल काम करेगा और पारमार्थिक सिद्धिमें 'लगन' काम करेगी। सायणाचार्य अथवा माधवाचार्यने लक्ष्मी-प्राप्तिके लिये गायत्रीके कई पुरश्चरण किये, पर लक्ष्मीजी नहीं आयीं। आखिर उन्होंने सब त्यागकर संन्यास ले लिया तो लक्ष्मीजी प्रकट हो गयीं! कारण पूछनेपर वे बोलीं कि अनुष्ठानसे तुम्हारे पूर्वकृत् पाप जल रहे थे, पर सर्वथा नहीं जले। परंतु त्यागके कारण सब पाप एक साथ जल गये! इससे सिद्ध होता है कि अनुष्ठानसे वह काम नहीं होता, जो त्यागसे होता है!

८१. जीवन-निर्वाहमें जो असुविधा रहती है, वह असुविधा त्यागसे मिट जाती है। वस्तुका अभाव दरिद्रको भी रहता है और धनीको भी, पर त्यागीको अभाव रहता ही नहीं!

८२. नामीमें प्रेम होनेसे साधन स्वतः होगा, करना नहीं पड़ेगा। परंतु प्रेम न होनेसे साधन करना पड़ेगा। साधन करना पड़ेगा तो उसमें विशेष कर्तृत्व आयेगा। जितना ज्यादा कर्तृत्व आयेगा, उतना साधन बढ़िया नहीं होगा।

८३. ये जो भगतिया होते हैं, इनसे जैसी हानि होती है, वैसी और किसीसे नहीं होती! ये फूँक भर देते

हैं! मुसलमानों-ईसाईयोंसे उतना नाश नहीं होता, जितना भगतोंसे होता है! सेवकोंकी सेवा बड़ी महँगी पड़ती है!

८४. अप्राप्तकी कामना न हो और प्राप्तमें सन्तोष हो तो आवश्यक वस्तु समयसे पूर्व प्राप्त होती है।

८५. आरम्भमें साधकका उद्देश्य होता है कि मुझे अपना कल्याण करना है। अब अपना कल्याण कैसे होगा? वह होगा अपने कल्याणकी इच्छा छोड़नेसे! अपने कल्याणके लिये साधन करे, फिर 'अपने लिये' मिट जायगा और 'कल्याण' रह जायगा!

८६. त्यागसे शान्ति मिलती है—यह अटकल लोगोंको आती नहीं, तभी दुःख पाते हैं!

८७. लोग दूसरोंमें तो त्याग-वैराग्य देखना चाहते हैं, पर खुद भोग और संग्रह चाहते हैं!

८८. जबतक 'मैं देह हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक उपदेश सुनते रहो, सुनाते रहो, कुछ लाभ नहीं!

८९. हम चिन्मय लोकमें रहनेवाले हैं, हाड़-मांसमय शरीरमें नहीं।

९०. सब एक परमात्मा ही हैं और वे सबको प्राप्त हैं—यह असली बात है। हम संसारमें बैठे हैं और परमात्माको प्राप्त करना है—यह नकली बात है।

९१. मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह बुराई-रहित होनेसे भी बढ़िया है!

९२. परमात्मामें लगानेसे मन संसारमें ही लगेगा; परंतु संसारसे उपराम होनेपर मन स्वतः परमात्मामें लगेगा।

९३. पापीका कल्याण हो सकता है, पर आलसीका नहीं!

९४. भगवान्‌में अपनापन नहीं हुआ तो समझे कि अभी जड़ताका सम्बन्ध छूटा नहीं।

९५. जैसे कोई व्यक्ति किसी अपरिचित गाँवमें चला जाय तो वहाँ न माँ है, न बाप है, न स्त्री है, न बेटा है, ऐसे ही इस संसारमें कोई भी अपना नहीं है। केवल हमने मान्यता कर रखी है।

९६. विवेकसे भी कृपा विशेष है। निर्बल होकर भगवान्‌को पुकारे। अपना बल है विवेक, पर जब वह बल काम नहीं देता, तब 'हे मेरे नाथ! हे मेरे नाथ!' यह पुकार काम देती है। यह विवेकसे भी तेज है! विवेकमें अन्य वस्तुकी सत्ता रहती है।

९७. संसारका सम्बन्ध तोड़नेके लिये विवेक बढ़िया है, और विवेकसे भी बढ़िया कृपा है! अलग-अलग देखनेमें विवेक बढ़िया है और मिटानेमें भगवान्‌की कृपा बढ़िया है। वह कृपा सबपर है। उस कृपासे लाभ उठानेका उपाय है—कृपाको स्वीकार करना।

९८. कहीं किंचिन्मात्र भी राग है तो वह पतन ही करेगा।

९९. यह लोक ही अलग है। हम दूसरे लोकके हैं। स्त्री, पुत्र, धन आदि सब इस लोकमें हैं। हमारे लोकमें तो केवल भगवान् हैं। यह बनावटी लोक है, जो मिट जायगा। वह असली लोक है, जो सदा रहेगा।

१००. मनुष्यके लिये 'विश्राम' है और पशुओंके लिये 'परिश्रम' है। श्रम संसारके लिये है। अपने लिये श्रम है ही नहीं! पशुओंके लिये विश्राम है ही नहीं!

१०१. शरीरसे हमारा कोई मतलब नहीं, रहे तो क्या? न रहे तो क्या? ऐसा हो जाय तो पूर्णता हो गयी!

१०२. विचार करनेसे विचारका उदय नहीं होता। विचारका उदय होता है कृपासे!

१०३. 'मैं हूँ'—यह जड़ है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह चिन्मय है। 'सत्ता है'—यह ज्ञान है और 'सत्ता मेरी है'—यह प्रेम है। सत्तामें स्थित हो जाओ, फिर स्वतः प्रेम हो जायगा!

१०४. विशेषता प्रेममें आती है। ज्ञानमें तो विशेषता मिटती है और एक समता रहती है।

१०५. एकमें ही अनेकता है अर्थात् 'है' में ही अनेकता है। अनेकका निषेध नहीं है, प्रत्युत दूसरी सत्ताका निषेध है। अनेकता बाधक नहीं है, प्रत्युत अन्य सत्ता बाधक है। अन्य सत्ता न हो तो अनेकतामें क्या हर्ज है? शरीरके हाथ-पैर-मस्तक आदि अनेक अवयव होनेपर भी यह एक है। अनेक होनेपर भी हमारा कुछ नहीं है!

१०६. धनी आदमीको असली सन्त नहीं मिल सकता। उसके पास कुछ-न-कुछ चाहनेवाला ही जाता है, और चाहनेवाला सन्त नहीं होता।

१०७. ठीक समझनेके बाद साधन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत साधन होता है। अगर साधन करना पड़ता है तो ठीक समझा नहीं है, असली साधन हाथ लगा नहीं है। जैसे नींद स्वतः आती है, ऐसे साधन स्वतः होता है। जैसे मन संसारमें, रुपयोंमें स्वतः खिंचता है, ऐसे साधन स्वतः होता है।

१०८. चोटी न रखना धर्मका तिरस्कार है। धर्मका तिरस्कार कल्याणमें बाधक है।

१०९. एकपर दृष्टि रहे तो पूर्णता है और अनेकपर दृष्टि रहे तो जन्म-मरण है—यह पूरी बात कह दी!

११०. 'मिला हुआ मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं'—यह सेवाका मूल मन्त्र है। यहींसे सेवा आरम्भ होती है और यहीं समाप्त होती है। दूसरेको सुख पहुँचाना ही सेवा नहीं है, प्रत्युत किसीके भी साथ, संसारमात्रके साथ सम्बन्ध न रखना भी सेवा है।

१११. दो कारणोंसे मनुष्य अपनी पारमार्थिक स्थितिसे विचलित हो जाता है, वास्तविक बातको भूल जाता है—अभिमानसे और विषयासक्तिसे।

११२. 'जानना' यह है कि मेरा कुछ नहीं है। मेरा हो ही कैसे सकता है? मैं चेतन हूँ, यह जड़ है। जड़ चेतनका कैसे हो सकता है? 'मानना' यह है कि प्रभु मेरे हैं। भगवान्‌ने कह दिया है—'**ममैवांशो जीवलोके**'! हम भगवान्‌के अंश हैं। जड़तासे हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। जड़ताको सत्ता भी चेतनने ही दी है। ऐसा निःसन्देह होकर मान लो, अनुभव अपने-आप होगा! कुछ करना नहीं पड़ेगा!

११३. प्रेमका पान भगवान् ही कर सकते हैं और प्रेमका दान मनुष्य ही कर सकता है।

११४. जो 'है', वह मेरा है—इसमें स्थित हो जाओ। 'मेरे नाथ' कहकर चुप हो जाओ, फिर अपने-आप ठीक हो जायगा। चुप होनेमें भी शक्ति उसीकी है, जिसको 'मेरे नाथ' कहा है। उसीकी ताकत है और दया है—ऐसा मानो।

११५. चाहे 'संसारका अभाव है'—यह दृढ़ कर लो, चाहे 'परमात्मा ही हैं'—यह दृढ़ कर लो। दोनोंमेंसे एकको दृढ़ कर लो तो दोनों हो जायँगे। कारण कि परस्परविरोधी दो सत्ताएँ एक साथ नहीं रह सकतीं।

११६. पराश्रय तथा परिश्रम—ये दो बातें छोड़नी हैं और हरि-आश्रय तथा विश्राम—ये दो बातें पकड़नी हैं। बस, इतनेमें पूरी बात आ गयी!

अथवा—

संसारमें मेरा कुछ नहीं है—यह 'जानना' है और प्रभु मेरे हैं—यह 'मानना' है। इतनेमें पूरी बात आ गयी!

अथवा—

'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)—इतनेमें पूरी बात आ गयी!

११७. यदि विवेककी प्रधानता न हो तो मनुष्य भी भोगयोनि ही है। विवेककी प्रधानतासे ही मनुष्यपना है।

११८. विषयोंमें आसक्ति होनेसे न तो विवेक ही दृढ़ होता है, न विश्वास ही दृढ़ होता है।

११९. साधक जितना चुप, अप्रकट रहे, उतना ही लाभ है।

१२०. असली सत्संग मिलना दुर्लभ है, न मिले तो पुस्तकें पढ़ो।

१२१. लोग कहते हैं कि कामना-रहित होनेसे मनुष्य पत्थरकी तरह जड़ हो जायगा! वास्तवमें कामना-रहित होनेसे जड़ नहीं हो जायगा, प्रत्युत केवल चेतन हो जायगा!

१२२. ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***—यही सार बात है! यही सार बात है!!

१२३. विश्वके सभी धर्मोंमें हिन्दूधर्म श्रेष्ठ है और हिन्दूधर्ममें **'वासुदेवः सर्वम्'** का सिद्धान्त श्रेष्ठ है!

१२४. समझमें आये या न आये, अन्धे होकर मान लो कि सब कुछ वासुदेव ही है। नींद आये, आलस्य आये, मन लगे या न लगे, है तो वही!

१२५. अपनेको ही खो दे कि मैं हूँ ही नहीं, केवल भगवान् ही हैं! यही असली शरणागति है। यही खास अद्वैत है।

१२६. सिवाय परमात्माके कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं—पूरी बात इतनी ही है! यह आखिरी बात है!

१२७. सब कुछ एक परमात्मतत्त्व ही है—इससे बढ़कर और क्या सिद्धि होगी?

प्रार्थना—

'हे नाथ! हे नाथ!! आप अत्यन्त कृपालु हो, फिर आपसे मेरी देरी कैसे सही जाती है?
आपके रहते मैं दुःख पा रहा हूँ! आपके बिना मेरी (भीतरकी)
बातको कौन समझेगा? कौन सुनेगा?'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

हृदयोद्‌गार

१. जो तत्त्वप्राप्ति करना चाहता है, वह कैसा ही क्यों न हो, अधिकारी हो या अनधिकारी, शुद्ध अन्तःकरणवाला हो या अशुद्ध अन्तःकरणवाला, उसको तत्त्वप्राप्ति हो सकती है। अगर वह तत्त्वप्राप्ति चाहता ही नहीं, उसमें तत्त्वप्राप्तिकी लगन ही नहीं तो उसको तत्त्वप्राप्ति कराना मेरे वशकी बात नहीं है!

२. मैं सबका हित चाहता हूँ, पर चाहते हुए भी कुछ कर नहीं पा रहा हूँ! इससे सिद्ध हुआ कि जबतक मनुष्य खुद अपने उद्धारके लिये तैयार नहीं होता, तबतक दूसरा उसका उद्धार करना चाहते हुए भी नहीं कर सकता।

३. परमात्मप्राप्ति अन्तःकरणकी शुद्धिके अधीन नहीं है—ऐसी बात सुनकर लोग चौंक जाते हैं कि शंकराचार्य आदिने भी अन्तःकरणकी शुद्धिको आवश्यक माना है, फिर स्वामीजीने ऐसा कैसे कह दिया! पर जैसे भौतिक जगत्‌में नित्य नये-नये आविष्कार होते रहते हैं, ऐसे ही मैं चाहता हूँ कि आध्यात्मिक जगत्‌में भी नये-नये आविष्कार हों, और ऐसा होना सम्भव भी है; क्योंकि परमात्मप्राप्तिके कई उपाय अभी शेष पड़े हैं, प्रकट नहीं हुए हैं। यदि कोई नया आविष्कार हो जाय तो उसमें हर्जा क्या है? हमारी शैली बिल्कुल नया आविष्कार है!

४. आपसमें प्रेमपूर्ण व्यवहार रखनेके लिये मैं दो बातें काममें लाता हूँ। पहली बात, दूसरेकी उचित बात मान लेना; क्योंकि दूसरा हमारी बात मानता नहीं और हम भी उसकी बात न मानें तो खटपट ही होगी। दूसरेसे अपनी बात मनवा लेना तो हमारे हाथकी बात नहीं, पर दूसरेकी बात मान लेना तो हमारे हाथमें है। दूसरी बात, हमारे पास जो भी वस्तुएँ हैं, उनको दूसरोंमें वितरित कर देना।

५. मेरे स्वभावमें पदार्थोंकी परतन्त्रता नहीं है, पर सन्त-महात्माओंकी परतन्त्रता है। वे जैसा कहें, वैसा मान लेता हूँ, पर निषिद्ध बात उनकी भी नहीं मानता। जो सन्त-महात्मा नहीं हैं, उनकी भी बात इसलिये मानता हूँ कि सन्त-महात्माओंकी बात माननेका स्वभाव बना रहे। कारण कि जिसका दूसरोंकी बात माननेका स्वभाव होगा, वही सन्तोंकी तथा शास्त्रोंकी बात भी मानेगा।

६. मेरे स्वभावमें ऐसी बात है कि कोई कहे कि यह पथ्य है तो मेरी उसमें स्वतः रुचि हो जाती है, और कोई कहे कि यह कुपथ्य है तो मेरा मन स्वतः वहाँसे हट जाता है। कारण कि मेरा अपना कोई आग्रह नहीं है।

७. शासन करना साधकका काम नहीं है। मैंने अपनी उम्र आज्ञा-पालनमें बितायी है। शासन करना, किसी कार्यके लिये हठ करना मेरे स्वभावमें नहीं है।

८. मुझमें कोई विशेषता नहीं थी। नामजपमें कुछ रुचि थी। सत्संग, भगवत्सम्बन्धी बातें और गीताजी अच्छी लगती थीं। मुझे जो भी लाभ हुआ, उसमें मैं भगवत्कृपाको ही कारण मानता हूँ। कृपाके सिवाय दूसरा कोई कारण मुझे नहीं दीखता।

९. जैसे गुरु शिष्यसे बात करे, ऐसे बात करना मुझे अच्छा नहीं लगता। मुझे मित्रताकी तरह बात करना अच्छा लगता है।

१०. मैंने बचपनमें साधुओंके तथा गृहस्थोंके भी जूठे बर्तन साफ किये हैं। इससे मुझे लाभ हुआ है। जूठे बर्तन साफ करनेसे अन्तःकरण बहुत शुद्ध होता है। जितना नीचा काम किया जाय, उतनी ऊँची सेवा

होती है और उतना ही अधिक अन्त:करण शुद्ध होता है।

११. कोई खिलाना चाहे तो खा लें, मिलना चाहे तो मिल लें और सुनना चाहे तो सुना दें—यह मेरे स्वभावमें पहलेसे ही है।

१२. दूसरा कितना ही मेरे विरुद्ध चले, मैं उसकी उपेक्षा कर देता हूँ, पर हृदयसे उसका भला ही चाहता हूँ। मेरा स्वभाव माफ करनेका है।

१३. सच्चे हृदयसे परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाला मेरा सत्संग नहीं छोड़ सकता।

१४. मेरे साथ रहनेवाले सब 'शंकरके बराती' हैं! शंकरके परिवारमें साँप, मोर, चूहा आदि सब आपसमें द्वेष रखते हैं, पर शंकरसे प्रेम रखते हैं। शंकरसे द्वेष रखेंगे तो जायँगे कहाँ?

१५. जिनसे दूसरोंका हित होता है, वे 'गायोंकी रक्षा, सत्साहित्यका प्रचार और सत्संग'—ये तीन मेरे लक्ष्य हैं, व्यसन हैं।

१६. मुझमें भक्ति भी है और ज्ञान भी। दोनोंमें मुझे कोई विरोध नहीं दीखता। ज्ञान भक्तिमें सहायक है और भक्ति ज्ञानमें सहायक है—यह मेरा विश्वास भी है और अनुभव भी। मुझे द्वैत और अद्वैतमें कोई बाधा दीखती ही नहीं। मैं विवेचन तो ज्ञानका करता हूँ, पर मनमें खिंचाव भक्तिका, प्रेमका है। जब सगुणमें मन लगता है, तब निर्गुण ठीक समझमें आता है; और जब निर्गुणमें मन लगता है, तब सगुण ठीक समझमें आता है! मैं ज्ञानकी बात कहता हूँ तो प्रेम प्रकट होता है और प्रेमकी बात कहता हूँ तो ज्ञान प्रकट होता है!

१७. मेरी बातोंका प्रचार मूलमें असर कर रहा है, जबकि अन्य संगठनोंका प्रचार ऊपर-ऊपर ही है।

१८. जो मेरी बातोंको समझ लेगा, वह जन्म-मरणसे रहित हो जायगा!

१९. जो सत्संग करते हैं, वे लाइनमें लग गये हैं! सत्संग करते-करते कभी पड़ाकसे ज्ञान हो जायगा! पर कब होगा, इसका पता नहीं!

२०. जैसे ब्याजका रुपया पड़े-पड़े बढ़ता है, डालमें लगा फल अपने-आप पकता है, ऐसे ही मेरी बात पड़े-पड़े, अपने आप बढ़ेगी—'**विद्या कालेन पच्यते**'। जैसे वेदान्तकी बात सीखते हैं, ऐसे मेरी बात सीखी हुई नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें आ जायगी। पर मेरी बात सीखनी है अनुभव करनेके लिये, उपदेश देने अथवा बाबाजी बननेके लिये नहीं।

२१. मेरे पास साधन (तत्त्वप्राप्तिके उपाय) बहुत हैं। मैं आपकी योग्यताके अनुसार साधन बता दूँगा और 'मैं इसको कर सकता हूँ' ऐसा आपसे स्वीकार भी करा लूँगा। परंतु उसको करना तो आपके वशकी बात है, मेरे वशकी बात नहीं। (१५.६.१९८५, प्रात: ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

२२. हमारी पुस्तकोंमें परमात्मप्राप्ति जितनी सुगम बतायी गयी है, उतनी सुगम गीतामें भी नहीं बतायी गयी है!

२३. अभी जो पुस्तकें लिखी जा रही हैं, ये हजारों वर्षोंतक काम आयेंगी! कोई भी जिज्ञासु होगा तो उसे इन पुस्तकोंसे लाभ होगा।

२४. जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके समय उनकी रामायणका अधिक प्रचार नहीं था, पर अब घर-घर उनकी रामायण पढ़ी जाती है, ऐसे ही साढ़े चार सौ, पाँच सौ वर्षोंके बाद 'साधक-संजीवनी' का प्रचार होगा! गीताके सम्बन्धमें मेरे विचार मुख्य माने जायँगे और लोग खोज करेंगे कि किस विषयमें स्वामीजीने क्या कहा है।

२५. जैसा मेरा भाव होता है, वैसा भाव लेखोंमें नहीं आता, आ सकता भी नहीं। परंतु तत्त्वकी जोरदार जिज्ञासा होनेसे, उत्कट अभिलाषा होनेसे पाठक मेरे भावतक पहुँच सकता है।

२६. इतना लिखवानेपर भी मुझे सन्तोष नहीं है। सन्तोष तो तब हो, जब पढ़ते ही तत्त्वज्ञान हो जाय!!

२७. मेरी पुस्तकोंका भाव जल्दी समझमें न आये तो उन्हें नियमसे बार-बार पढ़ना चाहिये। फिर बातें समझमें आने लगेंगी।

२८. मैं स्वभाववश दूसरेकी बात मान लेता हूँ और कह देता हूँ कि 'यों ही सही'। पर ऐसा कहनेका अर्थ है कि 'मेरी स्वीकृति नहीं है'! 'यों ही सही'—ऐसा कहनेमें अपने संकल्प या विचारका त्याग है। अपना संकल्प या विचार होनेपर मैं 'यों ही सही' नहीं कहता।

२९. मारवाड़ीमें एक कहावत है—***'हार खा ली, झगड़ो मिट्यो'***। यह मेरे स्वभावमें है!

३०. न माने तो नहीं सही; न मिले तो नहीं सही—इस तरह 'नहीं सही' मुझे बहुत प्रिय लगता है। यह 'नहीं सही' बहुत बड़ा अस्त्र है!

३१. गीतापर विचार करनेसे मुझे यह बात मिली कि मूलमें 'सगुण' ही मुख्य है। इस बातसे मुझे बहुत सन्तोष हुआ! सगुणको मुख्य माननेसे सब शंकाओंका ठीक समाधान हो जाता है, सब प्रक्रिया ठीक बैठ जाती है। 'सगुण' को मुख्य माननेसे, उसकी शरण लेनेसे बड़ा भारी लाभ है, अपना भी और दुनियाका भी! सगुण माननेमें सुगमता भी है और माननेसे विशेषता भी आती है। 'सगुण' की उपासना 'समग्र' की उपासना है; क्योंकि सगुणमें निर्गुण भी आ जाता है, पर निर्गुणमें सगुण नहीं आ सकता। यद्यपि निर्गुण भी समग्रके ही अन्तर्गत है, तथापि निर्गुणका आग्रह रखनेवालेको निर्गुणकी ही प्राप्ति होगी, समग्रकी नहीं।

३२. मेरे सगुणके वर्णनमें और रामानुजाचार्य आदिके सगुण-वर्णनमें यह फर्क है कि मैं निर्गुणका खण्डन नहीं करता, प्रत्युत उसका भी आदर करता हूँ। मुझे शुरूसे ही खण्डन करना अच्छा नहीं लगता। मैं भगवान्‌का स्वरूप 'समग्र' मानता हूँ। 'समग्र' में सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार आदि सब आ जाते हैं। 'समग्र' की बात मेरे भीतर स्वतः है।

३३. वेदान्तके आचार्यतककी पढ़ाई मैंने इसी उद्देश्यसे की थी कि तत्त्वज्ञान हो जाय, जीवन्मुक्ति हो जाय। मैंने वेदान्त पढ़ा भी है और पढ़ाया भी है, पर पढ़ाईसे कुछ नहीं होता! अतः पढ़ाईकी बातोंको मैं महत्त्व नहीं देता, पढ़ाईकी बातें नहीं कहा करता। इसलिये कई लोग समझ बैठते हैं कि स्वामीजी पढ़े-लिखे नहीं हैं! मेरा पढ़ानेसे मतलब नहीं है, प्रत्युत तत्त्वको जनानेसे मतलब है। वेदान्त पढ़ा हुआ व्यक्ति 'गृहस्थमें कैसे रहें?', 'आवश्यक शिक्षा' जैसी पुस्तकें नहीं लिख सकता।

३४. मैं ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—यह क्रम मानता हूँ।

३५. मुझे गीता जितनी गहरी प्रतीत होती है, उतना वेदान्त नहीं। वेदान्त एकदेशीय है और गीता सर्वदेशीय है। गीता 'राग' मिटानेकी बात कहती है, वेदान्त 'अज्ञान' मिटानेकी बात कहता है। अज्ञान रागपर ही टिका हुआ है। अतः राग मिटाये बिना अज्ञान मिटानेका यत्न करनेपर भी अज्ञान नहीं मिटता।

३६. मैं शास्त्रोंसे अधिक सन्तवाणीपर, अनुभवी महापुरुषकी वाणीपर विश्वास करता हूँ। कई साधकोंका पुस्तकोंकी खोजपर जोर रहता है कि कोई अच्छी पुस्तक मिल जाय, पर मेरा अनुभवी पुरुषोंपर जोर था कि कोई अनुभवी पुरुष मिल जाय। जो बात अनुभवी सन्तोंसे मिलती है, वह शास्त्रोंमें नहीं मिलती, यह मैंने देखा है।

३७. मुझपर बचपनसे ही बड़ी भगवत्कृपा रही! भगवान्‌ने मुझे कहीं भी सन्तोष नहीं करने दिया, कहीं भी टिकने नहीं दिया, मानो मेरे पीछे ही पड़े रहे! जहाँ गया, वहीं सन्तोष नहीं हुआ! सन्देहरहित होनेपर भी सन्तोष नहीं है! इसको मैं भगवान्‌की कृपा ही मानता हूँ। अब भी भगवान् नयी-नयी बात जनाते रहते हैं; जैसे कोई आदमी बताये, वैसे बताते हैं भीतरसे! मैंने अपने जीवनमें न तो अपना कोई आग्रह रखा और न सन्तोष किया, इसलिये भगवत्कृपा आगे-से-आगे बढ़ाती रही।

३८. व्याख्यान देते समय मैं अपनी समझसे कुछ नहीं कहता। उस समय मेरी समझ काम नहीं करती, भगवान्‌की शक्ति काम करती है। मेरा शरीर भी काम नहीं कर रहा है, केवल भगवत्कृपा काम कर रही है!

३९. मैं जो प्रवचन देने आदिका कार्य कर रहा हूँ, यह मेरा व्यक्तिगत कार्य नहीं है, प्रत्युत ठाकुरजीका कार्य है। 'साधक-संजीवनी' को भी मैं अपना व्यक्तिगत ग्रन्थ नहीं मानता।

४०. जितना भगवान् मुझे जानते हैं, उतना मैं अपने-आपको नहीं जानता और जितना मैं अपने-आपको जानता हूँ, उतना दूसरे मुझे नहीं जानते।

४१. कहना नहीं मानना, चोरी करना और चालाकी करना—ये तीन व्यक्ति मुझे बहुत बुरे लगते हैं!

४२. एक कहावत है—***'जो गुड़से ही मर जाय, उसे जहर क्यों दे!'*** मैं तो गुड़से ही मरनेवाला हूँ, कपट-चालाकी मुझे आती नहीं, फिर मेरे साथ कपटपूर्ण व्यवहार करनेसे क्या लाभ?

४३. मैंने अपनेपर किसीका एहसान नहीं रखा है।

४४. मैं किसीको बाहर जाकर रहनेकी आज्ञा दूँ तो वह बाहर रहते हुए भी (आज्ञाके कारण) मेरे साथ ही है।

४५. दूसरेपर अपनी बात लादना मेरे स्वभावमें नहीं है। अपनी बात लादनेसे वह हमारी बातका, साधनाका तो ठीक पालन कर सकेगा नहीं और अपनी साधना (जो पहलेसे करता आया है) छोड़ देगा!

४६. मुझे व्याख्यानकी अपेक्षा कीर्तन ज्यादा अच्छा लगता है। व्याख्यानमें तो तरह-तरहकी अपनी और दूसरोंकी बातें होती हैं, पर कीर्तनमें केवल भगवान्‌का ही नाम होता है। इसलिये समर्थ स्वामी रामदासजी कीर्तनको 'शुद्ध हरिकथा' कहते थे। जिस वक्तामें मान-बड़ाईकी इच्छा ज्यादा है, वह तो व्याख्यान ही देगा। वह कीर्तन क्यों करेगा? कारण कि अपनी विद्वत्ता, योग्यता आदिका प्रदर्शन व्याख्यानमें ही किया जा सकता है। परंतु जिसमें लौकिक लाभकी इच्छा नहीं है, केवल पारमार्थिक लाभकी इच्छा है, वह कीर्तन ही पसन्द करेगा।

४७. मेरा सत्संग करनेवालेमें ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोगका आग्रह नहीं रहेगा।

४८. अपनेमें पूर्णता न मानना मेरा स्वभाव है। मैंने अपनेको कभी सिद्ध नहीं माना, सदा साधक ही माना है। वास्तवमें साधन विशेष नहीं है, भगवान्‌की कृपा विशेष है। ऐसी कृपा हरेकपर नहीं होती!

४९. मैं बार-बार **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)—यह बात कहता हूँ, फिर भी यह पुरानी नहीं दीखती और इससे बड़ा लाभ होता है। हमारी पुनरुक्ति भी 'राम-राम' के जपकी तरह कल्याणकारक है!

५०. मेरा स्वभाव है—परिस्थितिको अपने अनुकूल न बनाकर खुद परिस्थितिके अनुकूल बन जाना। अपने लिये किसी परिस्थितिका परिवर्तन मैं नहीं चाहता।

५१. मैं वैष्णव साधु हूँ, संन्यासी नहीं। वास्तवमें मैं न तो साधु हुआ, न मैंने कभी कसीको गुरु बनाया।

माँने चार वर्षकी आयुमें साधु बना दिया। चार वर्षका बालक क्या जाने कि गुरु क्या होता है, साधु क्या होता है? गुरुने ही मुझे चेला बना लिया! मैंने सन्त-महापुरुषोंसे लाभ लिया है, उनकी आज्ञा मानी है, पर उनसे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उनको गुरु नहीं बनाया।

५२. मैं संन्यास लेनेका पक्षपाती नहीं हूँ। कलियुगमें संन्यास वर्जित है। गीता कहनेवाले और सुननेवाले दोनों ही साधु नहीं थे। मैं भी साधु बना नहीं, माँने पाँच वर्षकी आयुमें साधु बना दिया। उस समय मैं जानता नहीं था कि साधु क्या होता है? पर जिस मार्गपर आ गया, उसको ही पूरा करनेमें लग गया। (३०.११.१९९१, प्रातः ८.३०, नोहर)

५३. मेरा सम्प्रदायसे कोई मतलब नहीं है। मैं कभी सम्प्रदायके बन्धनमें नहीं रहा। मैं सम्प्रदायवादी नहीं हूँ, सारग्राही हूँ। मैं व्यक्ति अथवा सम्प्रदायका अनुयायी नहीं हूँ, प्रत्युत सत्य-तत्त्वका अनुयायी हूँ। वास्तवमें सिद्धान्तका प्रचार होना चाहिये, व्यक्ति या सम्प्रदायका नहीं। बात वह होनी चाहिये, जो व्यक्तिवाद और सम्प्रदायवादसे रहित हो, और जिससे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी लाभ उठा सकें।

५४. प्रतिकूलता सहन करनेमें मुझे जोर नहीं आता; क्योंकि मैंने प्रतिकूलता बहुत सही है।

५५. मनमें ऐसी आती है कि अकेला रहूँ। बीमार पड़ूँ तो कोई सेवा करनेवाला भी न हो! सिरदर्द हो तो कोई सिर दबानेवाला भी न हो! मुझमें सरदी-गरमी सहनेकी शक्ति है। पर शरीर सहनेमें असमर्थ है, शरीर साथ नहीं देता!

५६. जो मेरी बात सुनेगा, वह वेदान्तके आचार्यसे भी तेज हो जायगा! (६.२.१९८९, प्रातः ५, राँची)

५७. हमारा सत्संग करे और असर न पड़े—ऐसा हो ही नहीं सकता! जिन्होंने सत्संग किया है,वही सत्संगके लाभको जानते हैं। (२७.११.१९८९, प्रातः ९.३०, बम्बई)

५८. एक बार मुझे स्वप्न आया। मैं स्त्री बना हुआ था। नौ मन्दिर थे। मैंने नवदुर्गाकी पूजा की। परंतु उस समय भी यह सावधानी थी कि कोई स्त्री छू न जाय! (२१.२.१९८९, दोपहर ४, रामधाम, खेड़ापा)

५९. मुझे दो काम बहुत महत्त्वपूर्ण दीखते हैं—गायोंकी सेवा और पुस्तकोंका प्रचार। गायें कट रही हैं तो मानो देशकी जड़ कट रही है!

६०. मैं व्याख्यानके आरम्भमें नौ बार 'राम' नाम लेता हूँ। इससे बड़ा भारी मंगल होता है! नौकी संख्या पूर्ण है, विलक्षण है! (५.९.१९८९, प्रातः ८, बीकानेर)

६१. कई बार व्याख्यान देते समय मैं नींदमें होता हूँ, पर बोलनेमें कोई भूल होते ही चट नींद उड़ जाती है, होश आ जाता है! (९.१.१९९०, प्रातः ५, बीकानेर)

६२. सत्संगके आरम्भमें मैं पूछता हूँ कि क्या सुनाऊँ, बताओ? तो इसमें रहस्यकी बात यह है कि सभीको दूसरोंके मनकी बात रखनी चाहिये। (११.१०.१९८६, प्रातः ५, नोखा)

६३. कोई मुझसे पूछता है, मेरी बात सुनता है, वह मेरी सेवा करता है। जैसे, आप बढ़िया प्रश्न पूछते हो तो उससे मेरे भीतर श्रेष्ठ भाव पैदा होता है—यही मेरा लाभ है, मेरी सेवा है। बोलनेसे मुझे कोई कष्ट नहीं होता। मानसिक उत्साह, प्रसन्नता होनेपर शारीरिक कष्ट बाधक नहीं होता। जैसे, प्रसवके समय स्त्रीको बड़ा कष्ट होता है, पर 'बेटा जन्मा है'—यह सुनते ही वह कष्ट भूल जाती है। दूकानदारको कष्ट न हो—यह सोचकर क्या दूकानमें जाना छोड़ देते हैं? जानेसे तो उलटे दुकानदारको लाभ होगा कि हमारा ग्राहक आ गया! ग्राहकोंके आनेपर ही तो दूकान चलती है! (१.१२.१९८९,

प्रातः ५, बम्बई)

६४. आप प्रश्न पूछोगे तो मैं सद्-उत्तर दूँगा, असद्-उत्तर नहीं दूँगा। शंकाका समाधान हो जाय, भीतरमें सन्तोष हो जाय—यह 'सद्-उत्तर' है। दूसरेकी जबान बन्द कर दे, भीतरमें सन्तोष न हो—यह 'असद्-उत्तर' है। (६.१२.१९९१, प्रातः ५, कलकत्ता)

६५. सबका और सुगमतासे कल्याण कैसे हो—यह विचार मेरे मनमें हर समय रहता है। (१३.६.१९८९, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

६६. मेरी यह धुन है कि जल्दी-से-जल्दी और हरेकका कल्याण कैसे हो? पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी, मूर्ख-से-मूर्ख, अपढ़-से-अपढ़, हरेकको जल्दी-से-जल्दी, सुगम-से-सुगम तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो? आपमें केवल एक चीजकी जरूरत है—अपने कल्याणकी चाहना। (२७.८.१९९१, प्रातः ५, जयपुर)

६७. अगर छः-सात वर्ष और शरीर रह गया तो और भी सुगमतासे तत्त्वप्राप्तिकी बात बता सकता हूँ!! मैं इसकी खोजमें लगा हूँ। (२६.५.१९९१, प्रातः ८.३०, गीताभवन, ऋषिकेश)

६८. अपने कल्याणका विचार मुख्य होना चाहिये, तभी मेरी बात समझमें आयेगी। (१४.६.१९८९, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

६९. गीताकी बात और अपने कल्याणकी बात मैं सोता हुआ हूँ तो भी जगाकर पूछ लेना! (२८.७.१९९०, प्रातः ८.३० बीकानेर)

७०. मैं तो गीता माताके दूधसे ही पला, पुष्ट हुआ हूँ! (२७.५.१९९१, प्रातः ५, गीताभवन, ऋषिकेश)

७१. गीता, रामायण और भागवतमें मुझे बहुत विलक्षणता प्रतीत होती है! इन ग्रन्थोंमें पग-पगपर विलक्षणता है! मन होता है कि इनको सुनता ही रहूँ! तृप्ति नहीं होती!! (२४.८.१९९१, सायं ५.३०, जयपुर)

७२. '**वासुदेवः सर्वम्**' के समान मुझे कोई दूसरी बात मिली ही नहीं! इसमें सभी दर्शनोंका, सभी शास्त्रोंका अन्त हो गया!